अनेकान्त

आषाढ़, संवत् २००५ :: जुलाई, सन् १९४८

वर्ष ९ किरण ७

दो प्रश्न अन्तर्हित हल-सहित

पठन क्योंकर हो ?

प्रथम तो 'पठनं कठिनं' प्रभो !
सुलभ पाठक-पुस्तक जो न हो ।
हृदय-चिन्तित, देह सरोग हो ,
पठन क्योंकर हो तुम ही कहो ?

क्यों न निराश हो ?

प्रबल धैर्य नहीं जिस पास हो ,
हृदयमें न विवेक-निवास हो ।
न श्रम हो, नहिं शक्ति-विकास हो ,
नमतमें वह क्यों न निराश हो ?

—युगवीर

प्रधान सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सह सम्पादक
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय—सूची

	लेख नाम	पृष्ठ
१	निष्ठुर कवि और विधाताकी भूल (कविता)—[कवि भूधरदास	२४५
२	जीरापल्ली-पार्श्वनाथ-स्तोत्र—[सम्पादक	२४६
३	समन्तभद्र भारतीके कुछ नमूने (युक्त्यनुशासन)—[सम्पादक	२४७
४	स्मरण शक्ति बढ़ानेका अचूक उपाय—[वसन्तलाल वर्मा	२५०
५	जीवका स्वभाव—[श्रीजुगलकिशोर कागजी	२५१
६	कर्म और उसका कार्य—[पं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री	२५३
७	जैन पुरातन अवशेष (विहङ्गावलोकन)—[स० मुनिकान्तिसागर	२६१
८	वैशाली (एक समस्या)—[स० मुनिकान्तिसागर	२६६
९	दान-विचार—[श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी	२६९
१०	मुरारमें वीरशासन-जयन्तीका महत्वपूर्ण उत्सव—[पं० दरबारीलाल	२७५
११	भाषण—[श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी	२७७
१२	सम्पादकीय—[अयोध्याप्रसाद गोयलीय : : मुनिकान्तिसागर	२८१
१३	पाकिस्तानी पत्र—[गुलामहुसैन कसरा मिनहास	२८६

वीरसेवामन्दिरको दस हजारका प्रशंसनीय दान

श्रीमान् बाबू नन्दलालजी सरावगी सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताके शुभ नामसे अनेकान्तके पाठक भले प्रकार परिचित हैं। आप कलकत्ताके सुप्रसिद्ध बाबू छोटेलालजी जैनके छोटे भाई हैं और अच्छे दानशील हैं। आप चुपचाप अनेक मार्गोंसे अनेक प्रकारका दान किया करते हैं। वीरसेवामन्दिर और उनके कार्योंके प्रति आपका बड़ा प्रेम है और आप उसे कितनी ही सहायता भेजते तथा पुत्र-पत्नी आदिकी ओरसे भिजवाते रहे हैं। हालमें आप वीरशासन-जयन्तीके उत्सवपर अपनी पत्नी श्रीमती कमलाबाईजी और लघुपुत्र चिरञ्जीव निर्मलकुमार-सहित मुरार (ग्वालियर) पधारे थे। वहाँसे मुझे साथ लेकर श्रीमहावीरजीकी यात्रा करते हुए ता० २८ जुलाई सन् १९४८ को आप वीरसेवामन्दिरके दर्शनार्थ सरसावा तशरीफ़ लाये थे—तीन दिन ठहरे थे। वीरसेवामन्दिर और उसकी लायब्रेरीको पहली ही बार देखकर आपने अपनी बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और जब आपके सामने वे ग्रन्थ आए जो वीरसेवामन्दिर-द्वारा तय्यार किये गये हैं और प्रकाशनकी बाट जोह रहे हैं तब आपने बड़ी उदारताके साथ उनके शीघ्र प्रकाशनार्थ दस हज़ार रुपयेकी रकम प्रदान की। इस उदार और प्रशंसनीय दानके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। इसके लिये यह संस्था आपकी चिरऋणी रहेगी।

जुगलकिशोर मुख्तार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

अनेकान्त

वस्तुतत्त्व-संद्योतक

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ९ किरण ७	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर आषाढ़ शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत २००५	जौलाई १९४८

निष्ठुर कवि और विधाताकी भूल

(१)

राग-उदै जग अंध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गमाई ।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक-सेवनकी सुघराई ॥
तापर और रचैं रस-काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई !
अंध-असूझनकी अंखियानमें, डारत हैं रज राम-दुहाई !!

(२)

हे विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहां कस्तूरि बनाई !
दीन कुरङ्गके तनमें, तृन दंत धरैं करुना नहिं आई !!
क्यों न रची तिन जीभनि जे रस-काव्य करैं परको दुखदाई !
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दंड, दुहूं सधते विसरी चतुराई !!

—कवि भूधरदास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीरापल्ली-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

[यह वही कानपुरके बड़े मन्दिरसे प्राप्त हुआ स्तोत्र है, जिसकी सूचना अक्तूबर सन् १६४७ की अनेकान्त किरण १२में, 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र'को देते हुए, की गई थी और जो प्रभाचन्द्रके शिष्य पद्मनन्दीकी कृति होनेसे पूर्वानुमानके अनुसार आजसे कोई ५५० वर्ष पहलेका बना हुआ होना चाहिये। इस स्तोत्रका सम्बन्ध उन श्रीपार्श्वनाथसे है जो जीरापल्ली स्थित देवालयके मूलनायक थे और जिनके कारण वह स्थान सुशोभित था—अतिशय-क्षेत्र बना हुआ था। मालूम नहीं यह जीरापल्ली स्थान कहाँपर है और वहाँपर अब भी उक्त देवालय पूर्ववत् स्थित है या नहीं, इसकी खोज होनी चाहिये। —सम्पादक]

(रथोद्धता)

आनमत्त्रिदश-मौलि-सन्मणि-स्फार-रश्मि-विकचांह्रि-पङ्कजम् ।
पार्श्वनाथमखिलाऽर्थ-सिद्धये तोष्टुवीमि भव-ताप-शान्तये ॥१॥
वाग्मयेन महता महीयसा तावकेन जिननाथ जन्मिनाम् ।
आन्तरं यदि तमः प्रसृत्वरं नाशमेति तदिदं किमद्भुतम् ॥२॥
काम-चण्डिम-भिदेलिम-प्रभं कः क्षमोऽत्र तव रूपमीडितुम् ।
वासवोऽपि यदि सेक्षणेच्छया चक्षुषां किल सहस्रतामितः ॥३॥
दर्शनाद्यदपहंसि कल्मषं केयमीश भवतोऽधिका स्तुतिः ।
ध्वान्त[मस्त]मरुणोदयादिदं याचिचेदिह किमद्भुतं सताम् ॥४॥
नाथ तत्र भवतः प्रभावतो यो गुणौघ-गणनां चिकीर्षति ।
पूर्वमब्धि-पयसोऽञ्जलि-व्रजैः स प्रमाणममतिस्तनोत्वलम् ॥५॥
दुस्तरेऽत्र भव-सागरे सतां कर्म-चण्डिम-भरान्निमज्जताम् ।
प्रास्फुरीति न कराऽवलम्बने त्वत्परो जिनवरोऽपि भूतले ॥६॥
त्वत्पदाम्बुज-युगाऽऽश्रयादिदं पुष्यमेति जगतोऽवतां सताम् ।
स्पृश्यतामपि न चाऽन्यशीर्षगं तव(त्वत्)समोऽत्र तवको निगद्यते ॥७॥
नाशयन्ति करि-सिंह-शूकर-व्याघ्र-चौर-निकरोरगादयः ॥
तं कदाचिदपि नो मनोगृहे पार्श्वनाथजिन यस्य शुंभसे ॥८॥

(शालिनी)

जीरापल्ली-मण्डनं पार्श्वनाथं नत्वा स्तौति भव्य-भावेन भव्यः ।
यस्तं नूनं ढौकते नो वियोगः कान्तोद्भूतश्चाऽप्यनिष्टश्च(स्य)योगः ॥९॥

(वसन्ततिलका)

श्रीमत्प्रभेन्दु-चरणाऽम्बुज-युग्म-भृङ्गश्चारित्र-निर्मल-मतिर्मुनिपद्मनन्दी ।
पार्श्वप्रभोर्विनय-निर्भर-चित्तवृत्तिर्भक्तया स्तवं रचितवान्मुनिपद्मनन्दी ॥१०॥

इति श्रीपद्मनन्दि-विरचितं जीरापल्ली-पार्श्वनाथ-स्तोत्रं समाप्तम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥४५॥

'विधि, निषेध और अनभिलाप्यता—स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव—ये एक-एक करके (पदके) तीन मूल विकल्प हैं । इनके विपक्षभूत धर्मकी संधि-संयोजनारूपसे द्विसंयोगज विकल्प तीन—स्यादस्ति-नास्त्येव, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव—होते हैं और त्रिसंयोज विकल्प एक—स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यमेव—ही होता है । इस तरहसे सात विकल्प हे वीर जिन ! सम्पूर्ण अर्थभेदमें—अशेष जीवादितत्त्वार्थ-पर्यायोंमें, न कि किसी एक पर्यायमें—आपके यहाँ (आपके शासनमें) घटित होते हैं, दूसरोंके यहाँ नहीं—क्योंकि "प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी" यह आपके शासनका वचन है, दूसरे सर्वथा एकान्तवादियोंके शासनमें वह बनता ही नहीं । और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्दके द्वारा नेय हैं—नेतृत्वको प्राप्त हैं—अर्थात् एक विकल्पके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग होनेसे शेष छहों विकल्प उसके द्वारा गृहीत होते हैं, उनके पुनः प्रयोगकी जरूरत नहीं रहती; क्योंकि स्यातपदके साथमें रहनेसे उनके अर्थविषयमें विवादका अभाव होता है । जहाँ कहीं विवाद हो वहाँ उनके क्रमशः प्रयोगमें भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि एक प्रतिपाद्यके भी सप्त प्रकारकी विप्रतिपत्तियोंका सद्भाव होता है—उतने ही संशय उत्पन्न होते हैं उतनी ही जिज्ञासाओंकी उत्पत्ति होती है और उतने ही प्रश्नवचनों (सवालों) की प्रवृत्ति होती है । और प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें अविरोधरूपसे विधि-निषेधकी जो कल्पना है उसीका नाम 'सप्तभङ्गी' है । अतः नाना प्रतिपाद्यजनोंकी तरह एक प्रतिपाद्यजनके लिये भी प्रतिपादन करने वालोंका सप्त विकल्पात्मक वचन विरुद्ध नहीं ठहरता है ।'

स्यादित्यपि स्याद्गुण-मुख्य-कल्पै-
कान्तो यथोपाधि-विशेष-वीक्ष्यः ।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं
द्विधा भवार्थ-व्यवहारवत्त्वात् ॥४६॥

' 'स्यात्' (शब्द) भी गुण और मुख्य स्वभावोंके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तोंको लिये हुए होता है—नयोंके आदेशसे । अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे अस्तित्व-एकान्त मुख्य है । शेष नास्तित्वादि-एकान्त गौण हैं; क्योंकि प्रधानभावसे वे विवक्षित नहीं होते और न उनका निराकरण ही किया जाता है । इसके सिवाय, ऐसा अस्तित्व गधेके सींगकी तरह असम्भव है जो नास्तित्वादि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता । 'स्यात्' शब्द प्रधान तथा गौणरूपसे ही उनका द्योतन करता है—जिस पद अथवा धर्मके साथ वह प्रयुक्त होता है उसे प्रधान और शेष पदान्तरों अथवा धर्मोंको गौण बतलाता है, यह उसकी शक्ति है । व्यवहारनयके आदेश(प्राधान्य)से नास्तित्वादि—एकान्त मुख्य हैं और अस्तित्व-एकान्त गौण है; क्योंकि प्रधानरूपसे वह तब विवक्षित नहीं होता और न उसका निराकरण ही किया जाता है, अस्तित्वका सर्वथा निराकरण करनेपर नास्तित्वादि धर्म बनते भी नहीं; जैसे कछवेके रोम । नास्तित्वादि धर्मोंके द्वारा अपेक्षमान जो वस्तुका अस्तित्व धर्म है वह 'स्यात्' शब्दके द्वारा द्योतन किया जाता है । इस तरह 'स्यात्' नामका निपात प्रधान और गौणरूपसे जो कल्पना करता है वह शुद्ध (सापेक्ष) नय के आदेशरूप सम्यक्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एकान्तसे करता है, अन्यथा नहीं—क्योंकि वह यथोपाधि—विशेषणानुसार—विशेषका—धर्म-भेद अथवा धर्मान्तरका—द्योतक होता है, जिसका वस्तुमें सद्भाव पाया जाता है।'

'(यहाँपर किसीको यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि जीवादि तत्त्व भी तब प्रधान तथा गौणरूप एकान्तको प्राप्त होजाता है; क्योंकि) तत्त्व तो अनेकान्त है—अनेकान्तात्मक है—और वह अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं; एकान्त तो उसे नयकी अपेक्षासे कहा जाता है—, प्रमाणकी अपेक्षासे नहीं; क्योंकि प्रमाण सकलरूप होता है—विकलरूप नहीं, विकलरूप तत्त्वका एकदेश कहलाता है जो कि नयका विषय है और इसीसे सकलरूप तत्त्व प्रमाणका विषय है। कहा भी है—'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः।'

'और वह तत्त्व दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक भवार्थवान् होनेसे—द्रव्यरूप, जिसे सद्द्रव्य तथा विधि भी कहते हैं; और दूसरा व्यवहारवान् होनेसे—पर्यायरूप, जिसे असद्द्रव्य, गुण तथा प्रतिषेध भी कहते हैं। इनसे भिन्न उसका दूसरा कोई प्रकार नहीं है, जो कुछ है वह सब इन्हीं दो भेदोंके अन्तर्भूत है।'

न द्रव्य-पर्याय-पृथग्-व्यवस्था
द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम्।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥४७॥

'सर्वथा द्रव्यकी ('द्रव्यमेव' इस द्रव्यमात्रात्मक एकान्तकी) कोई व्यवस्था नहीं बनती—क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायोंसे रहित द्रव्यमात्रतत्त्व प्रमाणका विषय नहीं है—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे वह सिद्ध नहीं होता अथवा जाना नहीं जासकता; न सर्वथा पर्यायकी (पर्यायएव—एक मात्र पर्याय ही—इस एकान्त सिद्धान्तकी कोई व्यवस्था बनती है—क्योंकि द्रव्यकी एकान्तकी तरह द्रव्यसे रहित पर्यायमात्रतत्त्व भी किसी प्रमाणका विषय नहीं है; और न सर्वथा पृथग्भूत—परस्परनिरपेक्ष—द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है—क्योंकि उसमें भी प्रमाणाभावकी दृष्टिसे कोई विशेष नहीं है, वह भी सकलप्रमाणोंके अगोचर है।'

'(द्रव्यमात्रकी, पर्यायमात्रकी तथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्यायमात्रकी व्यवस्था न बन सकनेसे) यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाय तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य एककी अर्पणाके साथ विरुद्ध पड़ता है—सर्वथा एकत्वके साथ द्वयात्मकता बनती ही नहीं—क्योंकि जो द्रव्यकी प्रतीतिका हेतु है और जो पर्यायकी प्रतीतिका निमित्त है वे दोनों यदि परस्परमें भिन्नात्मा हैं तो कैसे तदात्मक एक तत्त्व व्यवस्थित होता है? नहीं होता; क्योंकि अभिन्नका भिन्नात्माओंके साथ एकत्वका विरोध है। जब वे दोनों आत्माएँ एकसे अभिन्न हैं तब भी एक ही अवस्थित होता है, क्योंकि सर्वथा एकसे अभिन्न उन दोनोंके एकत्वकी सिद्धि होती है, न कि द्वैयात्म्य (द्वयात्मकता) की, जो कि एकत्वके विरुद्ध है। कौन ऐसा अमूढ (समझदार) है जो प्रमाणको अङ्गीकार करता हुआ सर्वथा एक वस्तुके दो भिन्न आत्माओं की अर्पणा—विवक्षा करे?—मूढके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। अतः द्वयात्मक तत्त्व सर्वथा एकार्पणाके—एक तत्त्वकी मान्यताके—साथ विरुद्ध ही है, ऐसा मानना चाहिये।'

(तब अविरुद्ध तत्त्व कैसे सिद्ध होवे? इसका समाधान करते हुए आचार्य महोदय बतलातेहैं—)

(किन्तु हे वीर जिन!) आपके मतमें—स्याद्वादशासनमें—ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूपसे तीन प्रकार—भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न—माने गये हैं और (इसलिये सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं।—क्योंकि सर्वथारूपसे तीन प्रकार माने जानेपर भी ये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध ठहरते हैं और विरुद्धरूपमें आपको अभिमत नहीं हैं। अतः स्यात्पदात्मक वाक्य न तो धर्ममात्रका प्रतिपादन करता है न धर्मीमात्रका, न धर्म-धर्मी दोनोंको सर्वथा अभिन्न प्रतिपादन करता है, न सर्वथा भिन्न और न सर्वथा भिन्नाऽभिन्न। क्योंकि ये सब प्रतीतिके विरुद्ध हैं। और इससे द्रव्य-एकान्तकी, पर्याय-एकान्तकी तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परस्परनिरपेक्ष पृथग्भूत द्रव्य-पर्याय-एकान्तकी व्यवस्थाके न बन सकनेका समर्थन होता है। द्रव्यादिके सर्वथा एकान्तमें युक्त्यनुशासन घटित ही नहीं होता।'

(तब युक्त्यनुशासन क्या वस्तु है, उसे अगली कारिकामें स्पष्ट करके बतलाते हैं—)

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्म-
तत्त्व-व्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ॥४८॥

'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित विषयस्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे युक्त्यनुशासन—युक्तिवचन—कहते हैं और वही (हे वीर भगवान्!) आपको अभिमत है।'

'(यहाँ आपके मतानुसार युक्त्यनुशासनका एक उदाहरण दिया जाता है और वह यह है कि) अर्थका रूप प्रतिक्षण (प्रत्येक समय) स्थिति(ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय(नाश)रूप तत्त्वव्यवस्थाको लिये हुए है; क्योंकि वह सत् है।'

(इस युक्त्यनुशासनमें जो पक्ष है वह प्रत्यक्ष-विरुद्ध नहीं है; क्योंकि अर्थका ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूप जिस प्रकार बाह्य घटादिक पदार्थोंमें अनुभव किया जाता है उसी तरह आत्मादि आभ्यन्तर पदार्थों में भी उसका साक्षात् अनुभव होता है। उत्पादमात्र तथा व्ययमात्रकी तरह स्थितिमात्रका—सर्वथा ध्रौव्यका—सर्वत्र अथवा कहीं भी साक्षात्कार नहीं होता। और अर्थके इस ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूपका अनुभव बाधक प्रमाणका अभाव सुनिश्चित होनेसे अनुपपन्न नहीं है—उपपन्न है; क्योंकि कालान्तरमें ध्रौव्योत्पादव्ययका दर्शन होनेसे उसकी प्रतीति सिद्ध होती है, अन्यथा खर-विषाणादिकी तरह एकबार भी उसका योग नहीं बनता। अतः प्रत्यक्ष-विरोध नहीं है। आगम-विरोध भी इस युक्त्यनुशासनके साथ घटित नहीं हो सकता; क्योंकि 'उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' यह परमागमवचन प्रसिद्ध है—सर्वथा एकान्तरूप आगम दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा इष्ट (अनुमान)के विरुद्ध अर्थका अभिधायी होनेसे ठग-पुरुषके वचनकी तरह प्रसिद्ध अथवा प्रमाण नहीं है। और इसलिये पक्ष निर्दोष है। इसी तरह सत्‌रूप साधन भी असिद्धादि दोषोंसे रहित है। अतः 'अर्थका रूप प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है सत् होनेसे,' यह युक्त्यनुशासनका उदाहरण समीचीन है।)

(इस तरह तो यह फलित हुआ कि एक ही वस्तु नाना-स्वभावको प्राप्त है जो कि विरुद्ध है। तब उसकी सिद्धि कैसे होती है उसे स्पष्ट करके बतलाते हैं—)

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अङ्गाङ्गि-भावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥४९॥

'(हे वीर जिन!) आपके शासनमें जो (जीवादि) वस्तु एक है (सत्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे वह (समीचीन नाना ज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मता (अनेकरूपता)का त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्वको प्राप्त होती है—जो नानात्मताका त्याग करती है वह वस्तु ही नहीं; जैसे दूसरोंके द्वारा परिकल्पित ब्रह्माद्वैत आदि। (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नानाज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मताको न छोड़ती हुई ही आपके मतमें वस्तुत्वरूपसे अभिमत है—अन्यथा उसके वस्तुत्व नहीं बनता; जैसे कि दूसरोंके द्वारा अभिमत निरन्वय नानाक्षणरूप वस्तु। अतः—जीवादिपदार्थ समूह परस्पर एक-दूसरेका त्याग न करनेसे एक-अनेक स्वभावरूप है; क्योंकि वस्तुत्वकी अन्यथा उपपत्ति बनती ही नहीं' यह युक्त्यनुशासन है।

(इस प्रकारकी वस्तु वचनके द्वारा कैसे कही जा सकती है? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि) वस्तु जो अनन्तरूप है वह अङ्ग-अङ्गीभावके कारण—गुण-मुख्यकी विवक्षाको लेकर—क्रमसे वचनगोचर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है—युगपत् नहीं, युगपत् (एक साथ) एक रूपसे और अनेकरूपसे वस्तु वचनके द्वारा कही ही नहीं जाती; क्योंकि वैसी वाणीका असंभव है—वचनमें वैसी शक्ति ही नहीं है। और इस तरह क्रमसे प्रवर्तमान वचन वस्तुरूप—सत्य—होता है उसके असत्यत्वका प्रसङ्ग नहीं आता; क्योंकि उसकी अपने नानात्व और एकत्वविषयमें अङ्ग-अङ्गीभावसे प्रवृत्ति होती है; जैसे 'स्यादेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधानभावसे एकत्व वाच्य है और गौणरूपसे अनेकत्व; 'स्यादनेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधामभावसे अनेकत्व और गौणरूपसे एकत्व वाच्य है, इस तरह एकत्व और अनेकत्वके वचनके कैसे असत्यता होसकती है? नहीं होसकती है। प्रत्युत इसके, सर्वथा एकत्वके वचनद्वारा अनेकत्वका निराकरण होता है और अनेकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी एकत्वके भी निराकरणका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे असत्यत्वकी परिप्राप्ति अभीष्ट ठहरती है; क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं है। और सर्वथा अनेकत्वके वचनद्वारा एकत्वका निराकरण होता है और एकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी अनेकत्वके भी निराकरणका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे सत्यत्वका विरोध होता है। और इसलिये अनन्त धर्मरूप जो वस्तु है उसे अङ्ग-अङ्गी (अप्रधान-प्रधान) भावके कारण क्रमसे वाग्वाच्य (वचनगोचर) समझना चाहिये।'

स्मरण-शक्ति बढ़ानेका एक अचूक उपाय

यदि तुम विचारके पक्षीको, वह जब और जहाँ प्रकट हो, पिंजड़ेमें बन्द न करोगे तो वह सम्भवतः सदाके लिये तुम्हारे पाससे चला जायगा, कुछ भी हो उसे लिख डालो, उसे फौरन लिखो, बादमें तुम उन दसमेंसे नौको खारिज कर सकते हो। लेकिन अगर तुम उन दसमेंसे एक भी बचाकर रख लोगे तो उससे तुम लाभ उठाओगे। इस लिये जब कभी तुम्हारे सामने नया विचार आये या नई बात दिमागमें पैदा हो, अथवा तुम कोई नई खोज करो तो उसे कागजपर लिख डालो।

* * *

मस्तिष्कके विषयमें यह न समझना चाहिये कि वह किसी बातको ढूँढनेमें पुस्तकालयका काम करेगा, अथवा अपने कामके लिये हमें जिन तथ्योंकी आवश्यकता पड़ती है उनका वह गोदाम है। मस्तिष्कका कार्यक्षेत्र बहुत ऊँचा है—रचना, समन्वय, संघटन, प्रेरणा देना और निर्णय करना ये उसके श्रेष्ठ कार्योंमेंसे है। यह काम उससे लीजिए।

* * *

कागज और पेंसिल खरीद कर तथ्योंके लिख डालनेमें उनका इस्तेमाल करना, मनमें बेकार बातोंको इकट्ठा करनेकी अपेक्षा बहुत अधिक सस्ता है। यह एक विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण है जिसे गत कुछ वर्षोंसे मनोवैज्ञानिक एकमतसे स्वीकार करने लगे हैं।

—वसन्तलाल वर्मा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवका स्वभाव

(लेखक—श्रीजुगलकिशोर जैन, कागजी)

[पाठक, देहलीकी ला० धूमीमल धर्मदासजी कागजीकी प्रसिद्ध फर्मसे अवगत होंगे। श्रीजुगलकिशोरजी जैन इसी फर्मके मालिक हैं। कितने ही वर्षोंसे मुझे आपके निकट-सम्पर्कमें आनेका अवसर मिला है। एकबार तो वीरसेवामन्दिरके अनेक प्रकाशनोंको छपानेके लिये कई महीने तक मुख्तारसाहब और मैं आपके घरपर ही ठहरे। हमने निकटसे देखा कि आप बहुत शान्त परिणामी, भद्र, धार्मिक और तत्त्वजिज्ञासु हैं। आप घण्टों तत्त्व-चर्चामें सब काम-काज छोड़कर रस लेते हैं। हालमें आप विदेशोंकी यात्रा करके लौटे हैं। वहाँ आपने अपनी संस्कृति, अपने चारित्र और ज्ञानका कितने ही लोगोंपर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। आपके हृदयमें यही बलवती भावना घर किये हुए है कि देश और विदेशमें जैनधर्मका प्रसार हो—उसके सिद्धान्तोंको दुनिया जाने और जानकर उनका आचरणकर सुख-शान्ति प्राप्त करे। प्रस्तुत लेख आपकी पहली रचना है। पाठक, देखेंगे कि वे अपने प्रथम प्रयत्नमें कितने अधिक सफल हुए हैं और जैनधर्मके दृष्टिकोणसे जीवका स्वभाव समझानेमें समर्थहो सके हैं। समाजको आपसे अच्छी आशाएँ हैं। —कोठिया]

जैन धर्म प्रत्येक जीवको अनादिकालसे स्वतन्त्र, अनादि और अकृत्रिम बतलाता है। इसमें जीवका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—जो जीवे सो जीव। अर्थात् जो ज्ञान-दर्शन गुणसे सहित है। अनादिकालसे यह जीव इस संसारमें मौजूद है और अनन्तकाल तक रहेगा—न इसको किसीने पैदा किया है और न इसका कोई विनाश कर सकता है। द्रव्यकी अपेक्षासे समस्त जीव नित्य और समान हैं—समान गुणवाले हैं। अनादिकालसे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय ग्लानि, वेद आदि पुद्गलविकारोंके वशीभूत हुए वे नाना प्रकारके शरीरोंको धारण कर संसारमें घूम रहे हैं। मिथ्यादर्शन (भ्रान्त दृष्टि)से संसारके पदार्थोंमें सुख समझकर वे उनको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते रहते हैं और उन पदार्थोंके मेलको ही सदा अपनाते रहते हैं। मिथ्यादर्शनके ही कारण हर एक प्राणी अपनी रुचिके अनुसार पदार्थोंमें राग व द्वेष करता है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट मालूम होता है तो वही पदार्थ दूसरेको अनिष्ट। एक पदार्थ एकको लाभदायक ज्ञात होता है तो दूसरेको वह हानिकारक प्रतीत होता है। हर जीव अपने-अपने संकल्प-विकल्पमें पड़ा हुआ किसीसे राग और किसीसे द्वेष करता हुआ शारीरिक व मानसिक दुःखोंको भोगता रहता है। एक शरीरको प्राप्त करता हुआ उसको छोड़कर अन्य नवीन शरीरको ग्रहण करता है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और सुख प्राप्त करनेका उपाय भी करता है। परन्तु प्रत्येक दिन व प्रत्येक समय उसे यही चिन्ता लगी रहती है कि मेरा कार्य पूर्ण कब और कैसे होगा ? मुझे मेरी इच्छित वस्तु कब और कैसे मिलेगी ? इस तरह विकल्प-जालोंमें पड़ा हुआ उसकी प्राप्तिके लिये अनुधावन करता है और कोशिशें करता है।

यह हम सब देखते ही हैं कि मनुष्य इस संसारमें प्रति-दिन नई-नई खोजें करता जाता है और आराम सुख व शान्तिके उपाय उनमें पाता-सा प्रतीत होता है, परन्तु होता क्या है कि वह उन्हें प्राप्त करके भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता—केवल क्षणिक-सी शान्तिको पाकर फिरसे उन्हीं उलझनोंमें फँस जाता है, पर सच्ची शान्तिका हल वहाँ नहीं पाता।

संसारमें असंख्य पदार्थ दिखाई देते हैं। प्रत्येकमें अनगिनत गुण हैं। प्रति-समय उनकी पर्यायें पलटती जाती हैं—किसी पदार्थमें भी स्थिरता नहीं पाई जाती। कोई पैदा होता है तो कोई नाश होता है। यह सब परिवर्तन क्या है ? क्या आपने कभी सोचा है ? यह सब संसारचक्र है। जिस प्रकार २, ३, ४, ५ आदि शब्दोंके मेलसे नाना प्रकारके पदवाक्यादि बन जाते हैं उसी प्रकार २, ३, ४ आदि वस्तुओंके मेलसे नाना प्रकारके भौतिक पदार्थ नये-नये रूपमें सामने आते रहते हैं। यह संसारका चक्कर है और वह इसी प्रकार सदा चलता रहेगा। मनुष्य अपनी अपूर्ण अवस्थामें कभी भी किसी पदार्थके पूर्ण गुणोंको जान नहीं सकेगी—उसका पूरा ज्ञान कभी नहीं होसकेगा। और इस लिये उसे सदा असंतोष और दुख बना रहेगा। कोई भी प्राणी यह नहीं कहता कि "मैं अब संसारकी सम्पत्ति व प्रभुता प्राप्त कर चुका हूँ और यह सदा मेरे पास इसी तरहसे स्थिर बनी रहेगी और मैं सदा सुख भोगता रहूँगा।" प्रत्येक प्राणी अधिकसे अधिक धनादिककी इच्छा करता है। जो साधु भी होजाते हैं उनमें भी अधिकांश अपनी सेवा कराकर धन आदिका ही आशीर्वाद देते हैं। इससे पता चलता है कि वे साधु होकर भी धनादिकमें ही सुखकी स्थापना करते हैं—उन्हें वास्तविक विवेक-बुद्धि जागृत नहीं हुई। आत्माके स्वरूपको उन्होंने नहीं जाना। उनकी दृष्टि सांसारिक भोगोंमें ही लगी रही।

स्वर्गमें जाकर अनेक प्रकारके सांसारिक भोगोंमें रमण करने या नरकमें निवास करके नाना प्रकार की यातनाओंको सहने या मनुष्य-भव प्राप्त करके कला-कौशल तथा प्रभुताको पानेपर भी आत्माको अपने असली स्वरूपकी पहचान नहीं हुई—आत्मा बन्धनमें पड़ा ही रहा। परतन्त्र तो रहा ही।

कितने ही प्राणी यह समझते हैं कि धर्मस्थानोंमें जानेसे और देवोंकी भक्ति-उपासना करनेसे आत्माका असली स्वरूप मालूम होजायगा और इसके लिये वे वहाँ जाते हैं और रागी, द्वेषी नाना प्रकारके देवी-देवताओंकी मान्यताएँ करते हैं। परन्तु उनसे भी उन्हें आत्माका असली स्वरूप मालूम नहीं हो पाता।

वास्तवमें तथ्य यह है कि आत्मामें राग-द्वेषकी कल्पनाका अभाव होजाना ही आत्माकी असली शांति है और वही आत्माका वास्तविक निज स्वभाव है—राग और द्वेषका सर्वथा अभाव अर्थात् प्रशम-गुण-यथाख्यातचारित्रादि आत्मा (जीव) की असली सम्पत्ति है। संसारदशामें वह पुद्गलकर्मोंसे ढकी हुई है—अपने विवेक, संयम, तपःसाधना आदि निज प्रयत्नों से उन पुद्गलकर्मोंके अलग होजानेपर वह प्रकट होजाती है। यह आत्मस्वभाव ही हम सबके लिये उपादेय है और इस दिशामें ही संसारी जीवोंके प्रयत्न श्रेयस्कर एवं दुखमोचक हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म और उसका कार्य

(लेखक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री)

कर्मकी मर्यादा

कर्मका मोटा काम जीवको संसारमें रोक रखना है। परावर्त्तन संसारका दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। कर्मके कारण ही ज़ीव इन पाँच प्रकारके परावर्त्तनोंमें घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमें रहते हुए जीवकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसा-में कर्मके कार्यका निर्देश करते हुए लिखते हैं—

'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः'

'जीवकी काम-क्रोध-आदिरूप विविध अवस्थाएँ अपने अपने कर्मके अनुरूप होती हैं।'

बात यह है कि मुक्त दशामें जीवकी प्रतिसमय, जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग अलग निमित्तकारण नहीं है, नहीं तो उसमें एकरूपता नहीं बन सकती। किन्तु संसारदशामें वह परिणति प्रति-समय जुदी जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे जुदे निमित्तकारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्कार रूपमें आत्मासे सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणतिके पैदा करनेमें सहायता प्रदान करते हैं। जीवकी अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तोंके सद्भाव और असद्भावपर आधारित है। जब तक इन निमित्तों-का एकक्षेत्रावगाहसंश्लेशरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है और इनका सम्बन्ध छूटते ही जीव शुद्ध दशाको प्राप्त होजाता है। जैन दर्शनमें इन्हीं निमित्तोंको 'कर्म' शब्दसे पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्माकी परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्रीके मिलनेपर राग होता है। जुगुप्साकी सामग्री मिलने-पर ग्लानि होती है। धन-सम्पत्तिको देखकर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेनेकी भावना होती है। ठोकर लगनेपर दुःख होता है और मालाका संयोग होनेपर सुख। इस लिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्माकी विविध परिणतिके होनेमें निमित्त नहीं हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अतः कर्म-का स्थान बाह्य सामग्रीको मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करनेपर यह युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि अन्तरङ्गमें वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य *सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस* योगीके राग-भाव नष्ट होगया है उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होनेपर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरङ्गमें योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कमके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है।

कर्म वैसी योग्यताका सूचक है पर बाह्य सामग्री-का वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और कभी उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है। किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मासे रहता है जब-तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। फिर भी अन्तरङ्गमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलने-पर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इस लिये निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्रीकी भी गिनती होजाती है। पर यह परम्परानिमित्त है इसलिये इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इतने विवेचनसे कर्मकी कार्य-मर्यादाका पता लग जाता है। कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योगद्वारा यथायोग्य शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलोंको ग्रहणकर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्मकी कार्य-मर्यादा यद्यपि उक्त प्रकारकी है तथापि अधिकतर विद्वानोंका विचार है कि बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति भी कर्मसे होती है। इन विचारोंकी पुष्टिमें वे मोक्षमार्गप्रकाशके निम्न उल्लेखोंको उपस्थित करते हैं—'तहां वेदनीय करि तौ शरीर विषै वा शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख दुःखनिको कारण पर द्रव्य का संयोग जुरै है।'—पृष्ठ ३५।

उसीसे दूसरा प्रमाण वे यों देते हैं—

'बहुरि कर्मनि विषै वेदनीयके उदय करि शरीर विषै बाह्य सुख दुःखका कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनौ, रोगीपनौ, शक्तिवानपनौ, दुर्बलपनौ अर क्षुधा तृषा रोग खेद पीड़ा इत्यादि सुख दुःखनिके कारण हो हैं। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पावनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्रधनादिक ······सुख दुःखके कारक हो हैं।'—पृष्ठ ५६।

इन विचारोंकी परम्परा यहीं तक नहीं जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुतसे लेखकोंने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणोंमें पुण्य और पापकी महिमा इसी आधारसे गाई गई है। अमितगतिके सुभाषितरत्नसन्दोहमें दैवनिरूपण नामका एक अधिकार है। उसमें भी ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तटपर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है। यथा—

'जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।'

किन्तु विचार करनेपर उक्त कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्मके दो भेद हैं—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी जो जीवकी विविध अवस्था और परिणामोंके होनेमें निमित्त होते हैं वे जीवविपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकारके शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासकी प्राप्ति होती है वे पुद्गलविपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्रीका प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी हैं। राजवार्त्तिकमें इनके कार्यका निर्देश करते हुए लिखा है—

'यस्योदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्, यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्।'

—पृ० ३०४।

इन वार्त्तिकोंकी व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—'अनेक प्रकारकी देवादि गतियोंमें जिस कर्मके उदयसे जीवोंके प्राप्त हुए द्रव्यके सम्बन्धकी अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकारका सुखरूप परिणाम होता है वह साता वेदनीय है। तथा नाना प्रकारकी नरकादि गतियोंमें जिस कर्मके फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, व्याधि, वध और बन्धनादि से उत्पन्न हुआ विविध प्रकारका मानसिक और कायिक दुःसह दुःख होता है वह असाता वेदनीय है।'

सर्वार्थसिद्धिमें जो सातावेदनीय और असातावेदनीयके स्वरूपका निर्देश किया है। उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। श्वेताम्बर कार्मिक ग्रन्थोंमें भी इन कर्मोंका यही अर्थ किया है। ऐसी हालतमें इन कर्मोंको अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्रीके संयोग-वियोगमें निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तवमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। इसकी प्राप्तिका कारण कोई कर्म नहीं है।

ऊपर मोक्षमार्ग प्रकाशकके जिस मतकी चर्चा की, इसके सिवा दो मत और मिलते हैं। जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश किया गया है। इनमेंसे पहला मत तो पूर्वोक्त मतसे ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनों के आधारसे चर्चा कर लेना इष्ट है—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोगद्वारमें प्रकृतियोंका नाम-निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीकामें वीरसेन स्वामीने इन कर्मोंकी विस्तृत चर्चा की है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ सर्व प्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीय का वही स्वरूप दिया है जो सर्वार्थसिद्धि आदिमें बतलाया गया है। किन्तु शङ्का-समाधानके प्रसङ्गसे उन्होंने सातावेदनीयको जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी उभयरूप सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

इस प्रकरणके वाचनेसे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामीका यह मत था कि सातावेदनीय और असाता-वेदनीयका काम सुख-दुखको उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्रीको जुटाना दोनों हैं।

(२) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सूत्र ४ की सर्वार्थ-सिद्धि टीकामें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश करते हुए लाभादिको उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धोंमें अतिप्रसङ्ग देनेपर लाभादिके साथ शरीरनामकर्म आदिकी अपेक्षा और लगा दी है। ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका क्या कारण है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान् भी इनके आधारसे दोनों प्रकारके उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीयको बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका निमित्त बतलाते हैं। और कोई लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमको। इन विद्वानोंके ये मत उक्त प्रमाणोंके बलसे भले ही बने हों किन्तु इतने मात्रसे इनकी पुष्टि नहीं की जासकती; क्योंकि उक्त कथन मूल कर्मव्यवस्थाके प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन मतोंको प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचारसे ही दिया जासकता है। वीरसेन स्वामीने तो स्वर्ग, भोग-भूमि और नरकमें सुख-दुखकी निमित्तभूत सामग्रीके साथ वहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवोंके साता और असाताके उदयका सम्बन्ध देख कर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाताका फल है। तथा पूज्य-पाद स्वामीने संसारी जीवमें बाह्य सामग्रीमें लाभादि-रूप परिणाम लाभान्तराय आदिके क्षयोपशमका फल जानकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमसे बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है। तत्त्वतः बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति न तो साता-असाताका ही फल है और न लाभान्तराय आदि कर्मके क्षय व क्षयोपशमका ही फल है।

बाह्य सामग्री इन कारणोंसे न प्राप्त होकर अपने-अपने कारणोंसे ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापारके साधन जुटाना, राजा महाराजा या सेठ साहुकारकी चाटु-कारी करना, उनसे दोस्ती जोड़ना, अर्जित धनकी रक्षा करना, उसे व्याजपर लगाना, प्राप्त धनको विविध व्यवसायोंमें लगाना, खेती-बाड़ी करना, झाँसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादयको संचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके साधन हैं। इन व अन्य कारणोंसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है उक्त कारणोंसे नहीं।

शङ्का—इन सब बातोंके या इनमेंसे किसी एकके करनेपर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्नकी कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शङ्का—कदचित् व्यवसाय आदि नहीं करनेपर भी धनप्राप्ति देखी जाती है, सो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है? क्या किसीके देनेसे हुई है या कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है? यदि किसीके देनेसे हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देनेवालेकी स्वार्थसिद्धि, प्रेम आदि गुण कारण हैं। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है तो ऐसी धनप्राप्ति पुण्योदयका फल कैसे कही जा सकती है। यह तो चोरी है। अतः चोरीके भाव इस धनप्राप्तिमें कारण हुए न कि साताका उदय।

शङ्का—दो आदमी एक साथ एक-सा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एकको लाभ होता है और दूसरेको हानि?

समाधान—व्यापार करनेमें अपनी अपनी योग्यता और उस समयकी परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप-पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापारमें एकको हानि और दूसरेको लाभ हो तो कदाचित् हानि-लाभ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाप-पुण्यका फल माना भी जाय, पर ऐसा होता नहीं; अतः हानि-लाभको पाप-पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शङ्का—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य-पाप कर्मका फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों है ?

समाधान—एकका गरीब दूसरेका श्रीमान् होना यह व्यवस्थाका फल है पुण्य-पापका नहीं। जिन देशों में पूँजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिको सम्पत्ति जोड़ने की पूरी छूट है वहाँ अपनी अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार लोग उसका संचय करते हैं और इसी व्यवस्थाके अनुसार गरीब और अमीर इन वर्गोंकी सृष्टि हुआ करती है। गरीबी और अमीरी इनको पाप-पुण्यका फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है। रूसने बहुत कुछ अंशोंमें इस व्यवस्थाको तोड़ दिया है इस लिये वहाँ इस प्रकारका भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो हैं ही। सचमुचमें पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओंसे परे है और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य-पापका निर्देश करता है।

शङ्का—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य-पापका फल नहीं है तो सिद्ध जीवोंको इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—बाह्य सामग्रीका सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। यों तो इसकी प्राप्ति जड चेतन दोनोंको होती है। क्योंकि तिजोड़ी में भी धन रक्खा रहता है, इसलिये उसे भी धनकी प्राप्ति कही जासकती है। किन्तु जडके रागादि भाव नहीं होता और चेतनके होता है इसलिये वही उसमें ममकार और अहङ्कार भाव करता है।

शङ्का—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य-पापका फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप-पुण्यका फल मानना ही पड़ता है ?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप-पुण्यके उदयका निमित्त भले ही होजाय पर स्वयं यह पाप-पुण्यका फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणोंसे प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने-अपने कारणोंसे प्राप्त होती है। इसे पाप-पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शङ्का—सरोगता और नीरोगताके क्या कारण हैं ?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व सङ्गति करना आदि सरोगताके कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व सङ्गति करना आदि नीरोगताके कारण हैं।

इस प्रकार कर्मकी कार्य-मर्यादाका विचार करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्तिके संयोग वियोगका कारण नहीं है। उसकी तो मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये हैं। हाँ जीवके विविध भाव कर्मके निमित्तसे होते हैं। और वे कहीं-कहीं बाह्य सम्पत्तिके अर्जन आदिमें कारण पड़ते हैं, इतनी बात अवश्य है।

नैयायिक दर्शन

यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी नैयायिक कार्यमात्र के प्रति कर्मको कारण मानते हैं। वे कर्मको जीवनिष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि चेतनगत जितनी विषमताएँ हैं उनका कारण कर्म तो है ही। साथ ही वह अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताओंका और उनके न्यूनाधिक संयोगोंका भी जनक है। उनके मतसे जगतमें द्वयणुक आदि जितने भ कार्य होते हैं वे किसी न किसीके उपभोगके योग्य होनेसे उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकोंने तीन प्रकारके कारण माने हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण। जिस द्रव्यमें कार्य पैदा होता है वह द्रव्य उस कार्यके प्रति समवायिकारण है। संयोग असमवायि कारण है। तथा अन्य सहकारी सामग्री निमित्त है। इनकी सहायताके बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

ईश्वर और कर्म कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण क्यों हैं, इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि जितने कार्य होते हैं वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते हैं, इस लिये ईश्वर सबका साधारण कारण है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब सबका कर्ता ईश्वर है तब फिर उसने सबको एक-सा क्यों नहीं बनाया ? वह सबको एक-से सुख एक-से भोग और एक-सी बुद्धि दे सकता था। स्वर्ग-मोक्षका अधिकारी भी सबको एक-सा बना सकता था। दुखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणियोंकी उसे रचना ही नहीं करनी थी। उसने ऐसा क्यों नहीं किया ? जगतमें तो विषमता ही विषमता दिखलाई देती है। इसका अनुभव सभीको होता है क्या जीवधारी और क्या जड जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी आकृति, स्वभाव और जाति जुदी-जुदी है। एकका मेल दूसरेसे नहीं खाता। मनुष्य को ही लीजिये। एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें बड़ा अन्तर है। एक सुखी है तो दूसरा दुखी। एकके पास सम्पत्तिका विपुल भण्डार है तो दूसरा दाने-दानेका भटकता फिरता है। एक सातिशय बुद्धिवाला है तो दूसरा निरा मूर्ख। मात्स्यन्यायका तो सर्वत्र ही बोलबाला है। बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाना चाहती है। यह भेद यहीं तक सीमित नहीं है, धर्म और धर्मायतनोंमें भी इस भेदने अड्डा जमा लिया है। यदि ईश्वरने मनुष्यको बनाया है और वह मन्दिरोंमें बैठा है तो उस तक उसके सब पुत्रोंको क्यों नहीं जाने दिया जाता है। क्या उन दलालोंका, जो दूसरेको मन्दिरमें जानेसे रोकते हैं, उसीने निर्माण किया है ? ऐसा क्यों है ? जब ईश्वरने ही इस जगतको बनाया है और वह करुणामय तथा सर्व शक्तिमान् है तब फिर उसने जगतकी ऐसी विषम रचना क्यों की ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नैयायिकोंने कर्मको स्वीकार करके दिया है। वे जगतकी इस विषमताका कारण कर्म मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर जगतका कर्ता है तो सही पर उसने इसकी रचना प्राणियोंके कर्मानुसार की है। इसमें उसका रत्तीभर भी दोष नहीं है। जीव जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे योनि और भोग मिलते हैं। यदि अच्छे कर्म करता है तो अच्छी योनि और अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करता है तो बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। इसीसे कविवर तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कहा है—

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

इस छन्दके पूर्वार्ध द्वारा ईश्वरवादका समर्थन करनेपर जो प्रश्न उठ खड़ा होता है, तुलसीदासजीने उस प्रश्नका इस छन्दके उत्तरार्ध द्वारा समर्थन करनेका प्रयत्न किया है।

नैयायिक जन्यमात्रके प्रति कर्मको साधारण कारण मानते हैं। उनके मतमें जीवात्मा व्यापक है इस लिये जहाँ भी उसके उपभोगके योग्य कार्यकी सृष्टि होती है वहाँ उसके कर्मका संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिकामें बनने वाली जिन मोटरों तथा अन्य पदार्थोंका भारतीयों द्वारा उपभोग होता है वे उनके उपभोक्ताओंके कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं। इसीसे वे अपने उपभोक्ताओंके पास खिंचे चले आते हैं। उपभोग योग्य वस्तुओंका विभागीकरण इसी हिसाबसे होता है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है वह उसके कर्मानुसार है और जो निर्धन है वह भी अपने कर्मानुसार है। कर्म बटवारेमें कभी भी पक्षपात नहीं होने देता। गरीब और अमीरका भेद तथा स्वामी और सेवकका भेद मानवकृत नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार हो ये भेद होते हैं।

जो जन्मसे ब्राह्मण है वह ब्राह्मण ही बना रहता है और जो शूद्र है वह शूद्र ही बना रहता है। उसके कर्म ही ऐसे हैं जिससे जो जाति प्राप्त होती है जीवन भर वही बनी रहती है।

कर्मवादके स्वीकार करनेमें यह नैयायिकोंकी युक्ति है। वैशेषिकोंकी युक्ति भी इससे मिलती जुलती है। वे भी नैयायिकोंके समान चेतन और अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताका साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भमें ईश्वरवादपर जोर नहीं दिया पर परवर्तीकालमें इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शनका मन्तव्य

किन्तु जैन दर्शनमें बतलाये गये कर्मवादसे इस मतका समर्थन नहीं होता। वहाँ कर्मवादकी प्राण-प्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारोंपर की गई है।

ईश्वरको तो जैनदर्शन मानता ही नहीं। वह निमित्तको स्वीकार करके भी कार्यके आध्यात्मिक विश्लेषणपर अधिक जोर देता है। नैयायिक-वैशेषिकों ने कार्यकारणभावकी जो रेखा खींची है वह उसे मान्य नहीं। उसका मत है कि पर्यायक्रमसे उत्पन्न होना, नष्ट होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है। जितने प्रकारके पदार्थ हैं उन सबमें यह क्रम चालू है। किसी वस्तुमें भी इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। अनादिकालसे यह क्रम चालू है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। इसके मतसे जिस कालमें वस्तुकी जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार कार्य होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जिस कार्यके अनुकूल होता है वह उसका निमित्त कहा जाता है। कार्य अपने उपादानसे होता है किन्तु कार्यनिष्पत्तिके समय अन्य वस्तुकी अनुकूलता ही निमित्तताकी प्रयोजक है। निमित्त उपकारी कहा जा सकता है कर्ता नहीं। इसलिये ईश्वरको स्वीकार करके कार्यमात्रके प्रति उसको निमित्त मानना उचित नहीं है। इसीसे जैनदर्शनने जगतको अकृत्रिम और अनादि बतलाया है। उक्त कारणसे वह यावत् कार्योंमें बुद्धिमान्‌की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। घटादि कार्योंमें यदि बुद्धिमान् निमित्त देखा भी जाता है तो इससे सर्वत्र बुद्धिमान्‌को निमित्त मानना उचित नहीं है ऐसा इसका मत है।

यद्यपि जैनदर्शन कर्मको मानता है तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन इन्हींके प्रति कर्मको निमित्त कारण मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने अपने कारणोंसे होते हैं कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ—पुत्रका प्राप्त होना, उसका मर जाना, रोजगारमें नफा-नुकसानका होना, दूसरोंद्वारा अपमान या सम्मानका किया जाना, अकस्मात् मकान का गिर पड़ना, फसलका नष्ट हो जाना, ऋतुका अनुकूल प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़ना, रास्ता चलते-चलते अपघातका होना, किसीके ऊपर बिजलीका गिरना, अनुकूल प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगों व वियोगोंका होना आदि ऐसे कार्य हैं जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रमसे इन्हें कर्मोंका कार्य समझा जाता है। पुत्रकी प्राप्ति होनेपर भ्रमवश मनुष्य उसे अपने शुभ कर्मका कार्य समझता है और उसके मर जानेपर भ्रमवश उसे अपने अशुभ कर्मका कार्य समझता है। पर क्या पिताके शुभोदयसे पुत्रकी उत्पत्ति और पिताके अशुभोदयसे पुत्रकी मृत्यु सम्भव है? कभी नहीं। सच तो यह है कि ये इष्ट संयोग या इष्ट वियोग आदि जितने भी कार्य हैं वे अच्छे बुरे कर्मोंके कार्य नहीं। निमित्त और बात है और कार्य और बात। निमित्तको कार्य कहना उचित नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक नोकर्म प्रकरण आया है। उससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। वहाँ मूल और उत्तर कर्मोंके नोकर्म बतलाते हुए इष्ट अन्न-पान आदिको साता वेदनीयका, अनिष्ट अन्न-पान आदिको असाता वेदनीयका, विदूषक या बहु-रूपियाको हास्य कर्मका, सुपुत्रको रतिकर्मका, इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगको अरति कर्मका, पुत्र-मरणको शोककर्मका, सिंह आदिको भयकर्मका और ग्लानिकर पदार्थोंको जुगुप्सा कर्मका नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डका यह कथन तभी बनता है जब धन-सम्पत्ति और दरिद्रता आदिको शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयमें निमित्त माना जाता है।

कर्मोंके अवान्तर भेद करके उनके जो नाम और जातियाँ गिनाई गई हैं उनको देखनेसे भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता में कर्म कारण नहीं है। बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता या तो प्रयत्नपूर्वक होती है या सहज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही होती है। पहले साता वेदनीयका उदय होता है और तब जाकर इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है किन्तु इष्ट सामग्रीका निमित्त पाकर साता वेदनीयका उदय होता है ऐसा है।

रेलगाड़ीसे सफर करनेपर या किसी मेलामें हमें कितने ही प्रकारके आदमियोंका समागम होता है। कोई हँसता हुआ मिलता है तो कोई रोता हुआ। इनसे हमें सुख भी होता है और दुख भी। तो क्या ये हमारे शुभाशुभ कर्मोंके कारण रेलगाड़ीमें सफर करने या मेला ठेला देखने आये हैं? कभी नहीं। जैसे हम अपने कामसे सफर कर रहे हैं वसे वे भी अपने अपने कामसे सफर कर रहे हैं। हमारे और उनके संयोग-वियोगमें न हमारा कर्म कारण है और न उनका ही कर्म कारण है। यह संयोग या वियोग या तो प्रयत्नपूर्वक होता है या काकतालीयन्यायसे सहज होता है। इसमें किसीका कर्म कारण नहीं है। फिर भी यह अच्छे बुरे कर्मके उदयमें सहायक होता रहता है।

नैयायिक दर्शनकी आलोचना

इस व्यवस्थाको ध्यानमें रख कर नैयायिकोंके कर्मवादकी आलोचना करनेपर उसमें हमें अनेक दोष दिखाई देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो आजकी सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और एकतन्त्रके प्रति नैयायिकोंका कर्मवाद और ईश्वरवाद ही उत्तरदायी है। इसीने भारतवर्षको चालू व्यवस्थाका गुलाम बनाना सिखाया। जातीयताका पहाड़ लाद दिया। परिग्रह-वादियोंको परिग्रहके अधिकाधिक संग्रह करनेमें मदद दी। गरीबीको कर्मका दुर्विपाक बताकर सिर न उठाने दिया। छूत-अछूत और स्वामी-सेवक-भाव पैदा किया। ईश्वर और कर्मके नामपर यह सब हमसे कराया गया। धर्मने भी इसमें मदद की। विचारा कर्म तो बदनाम हुआ ही धर्मको भी बदनाम होना पड़ा। यह रोग भारतवर्षमें ही न रहा। भारतवर्षके बाहर भी फैल गया।

इस बुराईको दूर करना है

यद्यपि जैन कर्मवादकी शिक्षाओं द्वारा जनताको यह बतलाया गया कि जन्मसे न कोई छूत होता है और न अछूत। यह भेद मनुष्यकृत है। एकके पास अधिक पूँजीका होना और दूसरेके पास एक दमड़ी का न होना, एकका मोटरोंमें घूमना और दूसरेका भीख माँगते हुए डोलना यह भी कर्मका फल नहीं है, क्योंकि यदि अधिक पूँजीको पुण्यका फल और पूँजी के न होनेको पापका फल माना जाता है तो अल्प-संतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे। किन्तु इन शिक्षाओंका जनता और साहित्यपर स्थायी असर नहीं हुआ।

अन्य लेखकोंने तो नैयायिकोंके कर्मवादका समर्थन किया ही, किन्तु उत्तरकालवर्ती जैन लेखकोंने जो कथासाहित्य लिखा है उससे भी प्रायः नैयायिक कर्मवादका ही समर्थन होता है। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको एक प्रकारसे भूलते ही गये और उनके ऊपर नैयायिक कर्मवादका गहरा रंग चढ़ता गया। अन्य लेखकों द्वारा लिखे गये कथा-साहित्यको पढ़ जाइये और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा-साहित्यको पढ़ जाइये। पुण्य-पापके वर्णन करनेमें दोनोंने कमाल किया है। दोनों ही एक दृष्टि-कोणसे विचार करते हैं। अन्य लेखकोंके समान जैन लेखक भी बाह्य आधारको लेकर चलते हैं। वे जैन मान्यताके अनुसार कर्मोंके वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदोंको सर्वथा भूलते गये। जैन दर्शनमें यद्यपि कर्मोंके पुण्य-कर्म और पाप-कर्म ऐसे भेद मिलते हैं पर इससे बाह्य सम्पत्तिका अभाव पाप कर्मका फल है और सम्पत्ति पुण्य कर्मका फल है यह नहीं सिद्ध होता। गरीब होकर भी मनुष्य सुखी देखा जाता है और सम्पत्तिवाला होकर भी वह दुखी देखा जाता है। पुण्य और पापकी व्याप्ति सुख और दुखसे की जा सकती है, अमीरी गरीबीसे नहीं। इसीसे जैन दर्शनमें सातावेदनीय और असाता वेदनीयका फल सुख दुख बतलाया है, अमीरी गरीबी नहीं। किन्तु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्यमें यह दोष बराबर चालू है। इसी दोषके कारण जैन जनताको कर्मकी अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनमें फँसना पड़ा है। जब वे कथा-ग्रन्थोंमें और सुभाषितोंमें यह पढ़ते हैं कि पुरुषका भाग्य जागनेपर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्यके अभावमें समुद्रमें पैठनेपर भी उनकी प्राप्ति नहीं होती। सर्वत्र भाग्य ही फलता है। विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता। तब वे कर्मवादके सामने अपना मस्तक टेक देते हैं। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको सदाके लिये भूल जाते हैं।

वर्तमान कालीन विद्वान् भी इस दोषसे अछूते नहीं बचे हैं। वे भी धनसम्पत्तिके सद्भाव और असद्भावको पुण्य-पापका फल मानते हैं। उनके सामने आर्थिक व्यवस्थाका रसियाका सुन्दर उदाहरण है। रसियामें आज भी थोड़ी बहुत आर्थिक विषमता नहीं है, ऐसा नहीं है। प्रारम्भिक प्रयोग है। यदि उचित दिशामें काम होता गया और अन्य परिग्रह-वादी अतएव प्रकारान्तरसे भौतिकवादी राष्ट्रोंका अनुचित दबाव न पड़ा तो यह आर्थिक विषमता थोड़े ही दिनकी चीज है। जैन कर्मवादके अनुसार साता-असाता कर्मकी व्याप्ति सुख-दुखके साथ है, बाह्य पूँजी-के सद्भाव-असद्भावके साथ नहीं। किन्तु जैन लेखक और विद्वान् आज इस सत्यको सर्वथा भूले हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें प्रारम्भमें यद्यपि जैन लेखकोंका उतना दोष नहीं है। इस सम्बन्धमें उन्होंने सदा ही उदारताकी नीति बरती है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि सब मनुष्य एक हैं। उनमें कोई जातिभेद नहीं है। बाह्य जो भी भेद है वह आजीविकाकृत ही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य यह जैनधर्म का सार है। इसकी उसने सदा रक्षा की है। यद्यपि जैन लेखकोंने अपने इस मतका बड़े जोरोंसे समर्थन किया था, किन्तु व्यवहारमें वे इसे निभा न सके। धीरे-धीरे पड़ौसी धर्मके अनुसार उनमें भी जातीय भेद जोर पकड़ता गया। जैन कर्मवादके अनुसार उच्च और नीच यह भेद परिणामगत है और चारित्र उसका आधार है। फिर भी उत्तर लेखक इस सत्यको भूलकर आजीविकाके अनुसार उच्च-नीच भेदको मानने लगे।

यद्यपि वर्तमानमें हमारे साहित्य और विद्वानोंकी यह दशा है तब भी निराश होनेकी कोई बात नहीं है। हमें पुनः अपनी मूल शिक्षाओंकी ओर ध्यान देना है। हमें जैन कर्मवादके रहस्य और उसकी मर्यादाओं को समझना है और उनके अनुसार काम करना है। माना कि जिस बुराईका हमने ऊपर उल्लेख किया है वह जीवन और साहित्यमें घुल-मिल गई है पर यदि इस दिशामें हमारा दृढतर प्रयत्न चालू रहा तो वह दिन दूर नहीं जब हम जीवन और साहित्य दोनोंमें आई हुई इस बुराईको दूर करनेमें सफल होंगे।

समताधर्मकी जय। गरीबी और पूँजीको पाप-पुण्य कर्मका फल न बतलाने वाले कर्मवादकी जय। छूत और अछूतको जातिगत या जीवनगत न माननेवाले कर्मवादकी जय। परम अहिंसा धर्मकी जय।

जैनं जयतु शासनम्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन पुरातन अवशेष

[विहङ्गाऽवलोकन]

(लेखक—मुनि कान्तिसागर)

[गत किरणसे आगे]

दक्षिणभारतमें श्रवणबेल्गोलामें अनेकों महत्वपूर्ण लेखोंकी उपलब्धि हुई है, जो दिगम्बर जैन समाजसे सम्बद्ध हैं। इन लेखोंका देवनागरी-लिप्यंतर एवं तदुपरि सुविस्तृत ऐतिहासिक प्रस्तावना-सहित बम्बई-से प्रकाशन भी होचुका है। काम अवश्य ही उस समयकी प्राप्त सामग्रीके आधारोंकी अपेक्षा सन्तोषप्रद ही कहा जासकता है। दशम शती पूर्वके बहुसंख्यक लेख और भी मिल सकते हैं यदि गवेषणा कीजाय तो।

मध्यकालीन जैन लेखोंकी संख्या अवश्य ही प्राचीनकालकी अपेक्षा कुछ अधिक है। क्योंकि मध्य-कालमें जैनोंकी उन्नति भी खूब रही। राजवंशोंमें जैन गृहस्थ सभी उच्च स्थानपर प्रतिष्ठित थे। जैनाचार्य उनकी सभाके बुधजनोंमें आदर ही प्राप्त न करते थे, कहीं-कहीं तो विद्वानोंके अग्रज भी थे, ऐसी स्थितिमें साधनोंकी बाहुल्यताका होना सर्वथा स्वाभाविक है। जैसलमेर, राजगृह (महठियाण-प्रशस्ति), पावापुरी, सम्पूर्ण गुजरात और राजपूताना आदि प्रान्तोंमें जो कुछ प्राचीन लेख प्राप्त किये गये हैं उनका बहुत ही कम भाग 'एपिग्राफिका इंडिया' या 'इंडियन एण्टीकेरी' में छपा है। स्वर्गीय बाबू पूरनचन्दजी नाहर मुनि श्रीजिनविजयजी, विजयधर्मसूरिजी, मुनिराज पुण्यविजयजी, नन्दलालजी लोढा, डा० डी० आर० भांडारकर, डा० सांकलिया आदि कुछ विद्वानोंने समय समयपर सामयिकोंमें प्रकाश डाला है। पर आज उनको कितना समय होगया, बहुतसे सामयिक भी-सर्वत्र प्राप्त नहीं, ऐसी स्थितिमें साधारण श्रेणीके लोग तो उन्हें पढ़नेसे ही वञ्चित रह जाते हैं। बहुत कम लोगोंको पता है कि हमारे लेखोंपर कौन कौन काम कर चुके हैं।

एक बातका उल्लेख मैं प्रसङ्गवशात् करदूं कि प्राचीन और मध्यकालीन लेखनिर्माण और खुदाईमें अंतर था इस विषयपर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। अजैन विद्वानोंका बहुत बड़ा भाग यह मानता आया है कि ये जैन लेख केवल जैन इतिहास के लिये ही उपयोगी हैं सार्वजनिक इतिहाससे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु ऐसा उनका मानना सत्य से दूर है, कारण कि जैन लेखोंका महत्व तो राजनैतिक दृष्टिसे किसी भी रूपमें कम नहीं। राजस्थान और गुजरातके जो लेख छपे हैं उनसे यही प्रमाणित हो चुका है कि उस समयकी बहुतसी महत्वपूर्ण राज-नैतिक घटनाओंका पता इन्हींसे चलता है। कामराका जो बीकानेर स्टेटपर आक्रमण हुआ था वह घटना तत्रस्थ लेखमें है। गोमटेश्वरके लेखोंसे तो उस समय के दूधके भावों तकका पता चल जाता है। ये मैंने उदाहरण मात्र दिये हैं। समस्त लेखोंकी एक विस्तृत सूची (कौन लेख कहाँ है? विषय क्या है? मुख्य घटना क्या-क्या है? संवत् किसका है? लिपि पंक्ति आदि बातोंका व्योरा रहने से सरलता रहेगी) तो बन ही जानी चाहिये। मैं तो यह चाहूँगा कि सम्पूर्ण लेखोंकी एक माला ही प्रकट होजाय तो बहुत बड़ा काम होजाय, प्रत्येक पत्र वाले इस कामको उठा लें—दो चार लेख प्रकाशनकी व्यवस्था करलें तो एक नया क्षेत्र तैयार होजायगा। शर्त यह कि साम्प्रदायिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनोभावोंसे काम न लिया जाय। सत्यको प्रकट कर देनेमें ही जैनधर्मकी ठोस सेवा है।

२ प्रतिमा लेखोंकी चर्चा यों तो प्रसङ्गानुसार उपर्युक्त पंक्तियोंमें होचुकी है कि दशम शतीके बाद इसका विकास हुआ। ज्यों-ज्यों प्रतिमाएँ बड़ी-बड़ी बनती गईं त्यों-त्यों उनके निर्माण-विधानमें भी कलाकारोंने परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। १२वीं शती से लगातार आज तक जो-जो मूर्तियें बनीं उनकी बैठकके पश्चात् और अग्रभागमें स्थान काफी छूट जाता था वहीं पर लेख खुदवाए जाते थे। स्पष्ट कहा जाय तो इसीलिये स्थान छोड़ा जाता था। जब कि पूर्वमें इस स्थानपर धर्मचक्र या विशेष चिह्न या नवग्रह आदि बनाये जाते देखे गये हैं। लेखोंमें प्रतिस्पर्द्धा भी थी, धातुप्रतिमाओंपर भी संवत्, प्रतिष्ठापक आचार्य, निर्मापक, स्थान आदि सूचक लेख रहते थे, जब पूर्वकालीन प्रतिमाओंमें केवल संवत् और नामका ही निर्देश रहता था। हाँ, इतना कहना पड़ेगा कि जैनोंने चाहे पाषाण या धातुकी ही प्रतिमा क्यों न हो, पर उनमें लिपि-सौंदर्य ज्योंका त्यों सुरक्षित रखा, मध्यकालीन लिपि-विकासके इतिहासमें वर्णित जैन लेखां का स्थान अनुपम है। दिगम्बर जैनसमाजकी अपेक्षा श्वेताम्बरोंने इसपर अधिक ध्यान दिया है। कभी-कभी प्रतिमाओंके पश्चात् भागोंमें चित्र भी खोदे जाते थे। ये लेख हजारोंकी संख्यामें प्रकट होचुके हैं पर अप्रकाशित भी कम नहीं[1]। २५०० बीकानेरके हैं ५०० मेरे संग्रहमें हैं, श्रीसाराभाई नबाबके पास सैकड़ों हैं और भी होंगे। इनकी उपयोगिता केवल जैनोंके लिये ही है इसे मैं स्वीकार न करूँगा।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे जैनोंके कलात्मक विशिष्ट अवशेषोंका स्थूलाभास मिल जाता है, एवं इस बातका भी पता चल जाता है कि हमारे पूर्व पुरुषोंने कितनी महान् अखूट सम्पत्ति रख छोड़ी है। सच कहा जाये तो किसी भी सभ्य समाजके लिये इनसे बढ़कर उचित और प्रगति-पथ-प्रेरक उत्तराधिकार हो ही क्या सकता है? सांस्कृतिक दृष्टिसे इन शिलाखण्डोंका बहुत बड़ा महत्व है, मैं तो कहूँगा हमारी और सारे राष्ट्रकी उन्नतिके अमर तत्त्व इन्हींमें लुप्त हैं। बाहरी अनार्य-म्लेच्छोंके भीषण आक्रमणोंके बाद भी सत्य पारम्परिक दृष्टिसे अखण्डित है। अतः किन किन दृष्टियों से इनकी उपयोगिता है यह आजके युगमें बताना पूर्व कथित उक्तियोंका अनुसरण या पिष्टपेषण मात्र है समय निःस्वार्थभावसे काम करनेका है। समय अनुकूल है। वायुमण्डल साथ है। अनुशीलनके बाह्य साधनोंका और शक्तिका भी अभाव नहीं। अब यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इतने विशाल प्रदेशमें प्रसारित जैन अवशेषोंकी सुरक्षा कैसे की जाय और उनके सार्वजनिक महत्वसे हमारे अजैन विद्वत्-समाजको कैसे परिचय कराया जाय, दोनों प्रश्न गम्भीर तो हैं पर जैन जैसी धनी समाजके लिये असम्भव नहीं हैं। जो अवशेष भारत सरकार द्वारा स्थापित पुरातत्त्वके अधिकारमें और जैन मन्दिरोंमें विद्यमान हैं वे तो सुरक्षित हैं ही, परन्तु जो यत्र तत्र सर्वत्र खण्डहरोंमें पड़े हैं और जैन समाजके अधिकारमें भी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके महत्वको न तो समाज जानता है न उनकी ओर कोई लक्ष ही है। मैंने अवशेषोंके प्रत्येक भागमें सूचित किया है कि जैन पुरातत्त्व विषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थमाला ही स्थापित की जाय जिसमें निम्न भागोंका कार्य सञ्चालित होः—

१—जैनमन्दिरोंका सचित्र ऐतिहासिक परिचय।

२—जैन गुफाएँ और उनका स्थापत्य, सचित्र।

३—जैन प्रतिमाओंकी कलाका क्रमिक विकास। इसे चार भागोंमें बाँटना होगा। तभी कार्य सुन्दर और व्यवस्थित हो सकता है।

जैनलेख। इसे भी चार भागोंमें विभाजित करना

---

१ आज भी अनेकों प्रतिमाएँ ऐसी हैं जिनके लेख नहीं लिये गये। दिगम्बर प्रतिमाओंकी संख्या इसमें अधिक है। जैन मुनि विहार करते हैं वे कम से कम आने वाले मन्दिरके लेख लेलें, तो काम हल्का होजायगा, दि० मुनियोंके साथ जो पंडितादि परिवार रहता है वह भी कर सकता है; क्योंकि दि० मन्दिरोंमें श्वेताम्बरोंको स्वाभाविक सुविधा नहीं मिलती है, मुझे अनुभव है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पड़ेगा—१ प्राचीन प्रस्तर लेख, २ सम्पूर्ण प्रतिमा लेख जो प्रस्तरपर है[1], ३ मध्यकालीन प्रस्तर लेख, ४ धातु प्रतिमाओंके लेख।

५—भिन्न भिन्न विविध भावदर्शक[2] जो शिल्प मिलते हैं, उनको सचित्ररूपमें जनताके सम्मुख रखा जाय, यह कार्य कुछ कठिन अवश्य है पर है महत्व-पूर्ण।

६—जैनकलासे सम्बद्ध मन्दिर, प्रतिमाएँ, मान-स्तम्भ, लेख, गुफाएँ आदि प्रस्तरोत्कीर्ण शिल्पोंकी ऐसी सूची तैयार की जानी चाहिये जिससे पता चल जाय कि कहाँपर क्या है ? इसमें अजायबघरोंकी सामग्री भी आजानी चाहिये[1]।

जबतक उपर्युक्त कार्य नहीं होजाते हैं तबतक जैन पुरातत्त्वका विस्तृत या संक्षिप्त इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। कई बार मैंने अपने परम श्रद्धेय और पुरातत्त्व विषयक मेरी प्रवृत्तिके प्रोत्साहक पुरा-तत्त्वाचार्य श्रीमान् जिनविजयजी आदि कई मित्रोंसे कहा कि आप पुरातत्त्वपर जैन दृष्टिसे क्यों न कुछ लिखें, सर्व स्थानोंसे एक उत्तर मिलता है "साधना कहाँ है ?" बात यथार्थ है। सामग्री है पर उपयुक्त प्रयोक्ताके अभावमें यों ही दिन प्रतिदिन नष्ट हो रही है। मेरा विश्वास है कि हमारी इस पीढ़ीका काम है साधनोंको एकत्रित करना, विस्तृत अध्ययन, मनन और लेखन तो अगली परम्पराके विद्वान करेंगे। साधनोंको टटोलनेमें भी बहुत समय लग जायगा। जैन मन्दिरों, गुफाओं और प्रतिमाओं आदिके प्राचीन चित्र कुछ तो प्रकाशित हुए हैं फिर भी अप्रकट भी कम नहीं; जो प्रकट हुए हैं वे केवल प्राचीनताको प्रमाणित करनेके लिये ही, उनपर कलाके विभिन्न अङ्गोंपर समीक्षात्मक प्रकाश डालनेका प्रयास नहीं किया गया है। रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन और बङ्गाल, 'आर्किलोजिकलसर्वे आफ इण्डिया' के रिपोर्ट 'रूपम्' 'इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री', 'सोसा-इटी ऑफ दी इण्डियन ओरिएन्टल आर्ट बम्बई यूनिवर्सिटी', 'जनरल ऑफ दी अमेरिकन सोसाइटी ऑफ दी आर्ट', 'भांडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्सि-टिट्यूट' 'इण्डियन कलचर' आदि जनरल्स एवं भारतीय अभारतीय आश्चर्य गृहोंकी सूचियोंमें जैन पुरातत्त्व और कलाके मुखको उज्वल करने वाली सामग्री पर्याप्तमात्रामें भरी पड़ी है (जैन पुरातत्त्व विस्तृत ग्रंथ सूची और अवशेषोंकी एक सूची मैंने

१ इस विभागपर यद्यपि कार्य होचुका है पर जो अवशिष्ट है उसे पूर्ण किया जाय।

२ इस प्रकारके विविध भावोंके परिपूर्ण शिल्पोंकी समस्या तब ही सुलझाई जासकती है जब प्राचीन साहित्यका तलस्पर्शी अध्ययन हो, एक दिन मैं रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके रीडिंगरूममें अपने टेबलपर बैठा था इतनेमें मित्रवर्य अर्द्धेन्दुकुमार गांगुलीने—जो भारतीय कलाके महान् समीक्षक और 'रूपम्' के भूतपूर्व सम्पादक थे—मुझे एक नवीन शिल्पकृतिका फोटू दिया, उनके पास बड़ौदा पुरातत्त्व विभागकी ओरसे आया था कि वे इस पर प्रकाश डालें, मैंने उसे बड़े ध्यानसे देखा, बात समझ में आई कि यह नेमिनाथजीकी बरात है पर यह तो तीन चार भागोंमें विभक्त था, प्रथम एक तृतियांशमें नेमिनाथ जी विवाहके लिये रथपर आरूढ़ होकर जारहे हैं, पथपर मानव समूह उमड़ा हुआ है, विशेषता तो यह थी सभीके मुखपर हर्षोल्लासके भाव झलक रहे थे, रथके पास पशु रुंध था, आश्चर्यान्वितभावोंका व्यक्तिकरण पशुमुखोंपर बहुत अच्छे ढंगसे व्यक्त किया गया था, ऊपरके भागमें रथ पर्वतकी ओर प्रस्थित बताया है। इस प्रकारके भावों की शिल्पोंकी स्थिति अन्यत्र भी मैंने देखी है पर इसमें तो और भी भाव थे जो अन्यत्र शायद आज तक उप-लब्ध नहीं हुए। यही इसकी विशेषता है। ऊपरके भाग में भगवानका लोच बताया है, देराना भी है और निर्वाण महोत्सव भी है, दक्षिण कोनेपर राजिमतीकी दीक्षा और गुफामें कपड़े सुखानेका दृश्य सुन्दर है। इतने भावोंका व्यक्तिकरण जैन कलाकी दृष्टिसे बहुत महत्व रखता है। मेरे इसका उदाहरण देनेका एक ही प्रयोजन है कि ऐसे साधन जहाँ कहीं प्राप्त हों तुरन्त फोटू तो उतरवा ही लेना चाहिये।

१ इन छहों विभागोंपर किस पद्धतिसे काम करना होगा इसकी विस्तृत रूपरेखामैं अलग निबन्धमें व्यक्त करूंगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भ करदी है) कुछ अवशेष भी अभी कारखानेमें बन्द हैं। इन सभीकी सहायतासे काम प्रारम्भ कर देना चाहिये। परन्तु एक बातको ध्यानमें रखना आवश्यक है कि जहाँ तक होसके अपनी मौलिक खोज को ही महत्व देना चाहिए, अपनी दृष्टिसे जितना अच्छा हम अपने शिल्पोंको देख सकेंगे उतना दूसरी दृष्टिसे संभव नहीं।

इन कामोंको कैसे किया जाय यह एक समस्या है मुझे तो दो रास्ते अभी सूझ रहे हैं:—

१ पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी, बाबू छोटे लालजी जैन डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, मुनि पुण्यविजयजी, विजयेन्द्रसूरि, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार, पं० नाथूरामजी प्रेमी, डा० बूलचन्द, डा० बनारसीदासजी जैन, श्री कामताप्रसाद जी जैन, डा० हँसमुख सांकलिया, मि० उपाध्याय, श्री उमाकान्त प्रे० शाह, डा० जितेन्द्र बैनरजी, प्रो० अशोक भट्टाचार्य, श्रीयुत अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली, डा० कालीदास नाग, अंजुली मजूमदार, डा० स्टेला, श्रीरणछोड़लाल ज्ञानी, डा० मोतीचन्द, डा० अग्रवाल, डा० पी० के० आचार्य, डा० विद्याधर भट्टाचार्य, अगरचन्द नाहटा, साराभाई नवाब आदि जैन एवं जैन पुरातत्त्वके विद्वान एवं अनुशीलक व्यक्तियोंका एक "जैन पुरातत्त्व संरक्षक संघ" स्थापित करना चाहिये। इनमेंसे जो जिस विषयके योग्य विद्वान हों उनको वह कार्य सौंपा जाय। ऊपर मैंने जो नाम दिये हैं उनमेंसे ११ व्यक्तियोंको मैंने अपनी यह योजना मौखिक कह सुनाई थी, जो सहर्ष योगदान देनेको तैयार हैं। हाँ कुछेक पारिश्रमिक चाहेंगे। इसकी कार्य पद्धतिपर विद्वान जैसे सुझाव दें वैसे ढङ्गसे विचार किया जासकता है। उनको सादर आमन्त्रण है। मान लीजिये संघ स्थापित होगया। परन्तु इसकी संकलना तभी संभव हैं जब प्रत्येक प्रान्त और जिलेके व्यक्तियों का हार्दिक और शारीरिक सहयोग प्राप्त हो; क्योंकि जिन-जिन प्रान्तोंमें जैन संस्थाएँ हैं उनके पुरातत्त्व प्रेमी कार्यकर्ताओं और प्रत्येक जिलेके शिक्षित जैनों का परम कर्तव्य होना चाहिए कि वे (यदि स्थापित होजानेके बाद स्थान निश्चित होजायें तब) अपने प्रांत जिले और तहसीलमें पाये जाने वाले जैन अवशेषों की सूचना; यदि संभव होसके तो वर्णनात्मक परिचय और चित्र भी, भेजकर सहायता प्रदान करें। क्योंकि बिना इस प्रकारके सहयोगके काम सुचारु रूपसे चल न सकेगा, यदि प्रान्तीय संस्थाएँ प्रान्तवार इस कामको प्रारम्भ करदें तो अधिक अच्छा होगा, कमसे कम उनकी सूची तो अवश्य ही 'अनेकान्त' कार्यालय में भेजें, वैसे निबन्ध भी भेजें, उनको सादर सप्रेम आमन्त्रण है।

अब रही आर्थिक बात, जैनोंके लिये यह प्रश्न तो मेरी विनम्र सम्मतिके अनुसार उठना ही नहीं चाहिये क्योंकि देव द्रव्यकी सर्वाधिक सम्पत्ति जैनोंके पासमें है, इससे मेरा तो निश्चित मत है कि समस्त भारतीय सम्प्रदायोंकी अपेक्षा जैनी चाहें तो अपने स्मारकोंको अच्छी तरह रख सकते हैं। इससे बढ़कर और क्या सदुपयोग उस सम्पत्तिका समयको देखते हुए हो सकता है। अपरिग्रह पूर्ण जीवन यापन करने वाले वीतराग परमात्माके नामपर अटूट सम्पत्ति एकत्र करना उनके सिद्धान्तकी एक प्रकारसे नैतिक हत्या करना है। यदि इस सम्पत्तिके रक्षक (?) इस कार्यके लिये कुछ रकम देदें तो उत्तम बात, न दें तो भी सारा भारतवर्ष पड़ा हुआ है माँगके काम करना है, तब चिन्ता ही किस बातकी है। मेरी सम्यत्यनुसार यदि "भारतीय ज्ञान-पीठ" काशी इस कार्यको अपने नेतृत्वमें करावें तो क्या कहना, क्योंकि उन्हें श्रीमान पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बा० लक्ष्मीचन्दजी एम० ए० और श्री-अयोध्याप्रसादजी गोयलीय जैसे उत्कृष्ट संस्कृति प्रेमी और परिश्रम करने वाले बुद्धि जीवी विद्वान प्राप्त हैं। पूर्वमें ग्राहक बनाना प्रारम्भ करदें तो भी कमी नहीं रह सकती। ये बातें केवल यों ही लिख रहा हूँ सो बात नहीं है आज यदि कार्य प्रारम्भ होता है तो ५०० ग्राहक आसानीसे तैयार किये जासकते हैं ऐसा मेरा दृढ़ अभिमत है।

२ दूसरा उपाय यह है कि जितने भी भारतमें जैन विद्यालय या कॉलेज हैं उनमें अनिवार्यरूपसे जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कलावशेषोंका ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था होनी चाहिए, कमसे कम सप्ताहमें एक क्लास तो होना ही चाहिए। इससे विद्यार्थियोंके हृदयमें कला भावनाके अँकुर फूटने लगेंगे, होसकता है उनमेंसे कर्मठ कार्यकर्ता भी तैयार होजायें। ग्रीष्मावकाशमें जो शिक्षण शिविर" होता है उसमें भी ३-४ भाषण इस विषयपर आयोजित हों तो क्या हर्ज है गत वर्ष कलकत्तासे मैंने विद्वत् परिषदके मन्त्रीजीका ध्यान शिल्पकलापर भाषण दिलानेकी ओर आकृष्ट किया था पर ३-३ पत्र देनेके बावजूद भी उनकी ओरसे कोई उत्तर आज तक मैं प्राप्त न कर सका। संस्कृतके विद्वानोंको इतनी इनकी उपेक्षा न करनी चाहिए। जिस युगमें हम जाते हैं और आगामी नवनिर्माणमें यदि हमें अपना सांस्कृतिक योगदान करना है तो पाषाणोंसे ही मस्तिष्कको टकराना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विषयका साहित्य सामूहिक रूपसे एक स्थानसे प्रकाशित नहीं हुआ, अतः वक्ताको परिश्रम तो करना होगा, उन्हें पर्याप्त अध्ययनके बाद वर्णित कृतियोंके साथ चक्षु-संयोग भी करना आवश्यक होगा। अस्तु, आगे ध्यान दिया जायगा तो अच्छा है। मैं विश्वासके साथ कहता हूँ कि वे यदि इस विषयपर ध्यान देंगे तो वक्ता की कमी नहीं रहेगी, वर्तमानमें मैं देखता हूँ कि लोग शीघ्र कह डालते हैं कि क्या करें, कोई विद्वान नहीं मिलता है इसका कारण यही प्रतीत होता है कि सभी विषयके विद्वानोंका सम्पर्क न होना।

जैन शिल्पकलाके विशाल ज्ञान प्राप्त करनेका यह भी मार्ग है कि या तो स्वतन्त्ररूपसे इसके गम्भीर साहित्यादिका अध्ययन किया जाय, बादमें अवशेषों का विशिष्टदृष्टिसे खासकर तुलनात्मकदृष्टिसे समुचित निरीक्षण किया जाय अथवा एतद्विषयक विशिष्ट विद्वानोंके पास रहकर कुछ प्राप्त किया जाय, दूसरा तरीका सर्वश्रेष्ठ है बिना ऐसा किये हमारा अध्ययन-सूत्र विस्तृत और व्यापक मनोभावों तक पहुँचेगा नहीं। अस्तु।

जैन समाजके पास कोई भी ऐसा व्यापक अजायबघर भी नहीं जिसमें सांस्कृतिक सभी समस्याओं को प्रकाशित करने वाले मौलिक साधन सुरक्षित रखे जायें, अलग-अलग कुछ गृहस्थोंके पास सामग्रियाँ हैं पर उनका देखना सभीके लिये सम्भव नहीं जब तक उनकी वैयक्तिक कृपा न हो।

मैं जैनतीर्थों और प्राचीन मन्दिरोंके जीर्णोद्धार करानेवाले धनवानोंको कहूँगा कि जहाँ कहींका भी जीर्णोद्धार करावें भूलकर भी प्राचीन वस्तुको समूल नष्ट न करें, न जाने क्या बुरी हवा हमारे समाजपर अधिकार जमाए हुए है कि लोग पुरानी कलापूर्ण सामग्रीको हटाकर तुरन्त मकरानेके पत्थरसे रिक्त स्थानकी पूर्ती कर देते हैं और वे अपनेको धन्य भी मानते हैं। यही बड़ी भारी भूल है। न केवल जैन समाजको ही, अपितु सभी भारतीयोंको संगमरमर पाषाणका बड़ा मोह लगा हुआ है जो सूक्ष्म कला-कौशलको पनपने नहीं देता। प्राचीन मन्दिर और कलापूर्ण जैनादि प्रतिमा एवं अन्य शिल्पोंके दर्शनका जिन्हें थोड़ा भी सौभाग्य प्राप्त है वे दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि पुरातन प्रबल कल्पनाधारी कलाकार और श्रीमन्तगण अपने ही प्रान्तमें प्राप्त होने वाले पाषाणोंपर ही विविध भावोत्पादक शिल्पका प्रवाह बड़ी ही योग्यता पूर्वक प्रवाहित करते-करवाते थे, वे इतनी शक्ति रखते थे कि कैसे भी पाषाणको वे अपने अनुकूल बना लेते थे, उनपर कीगई पालिश आज भी स्पर्द्धाकी वस्तु है। अल्प परिश्रमसे आज लोग सुन्दर शिल्पकी जो आशा करते हैं वह दुराशा मात्र है।

मेरी रुचि थी कि मैं जैन शिल्पकलाके जो जो फुटकर चित्र जहाँ कहीं भी प्रकाशित हुए हैं उनकी विस्तृत सूची एवं जिन महानुभावोंने उपर्युक्त विषय-पर आजतक महान् परिश्रम कर जो महद् प्रकाश डाला है उन प्रकाशित स्थान या पत्रादिका, उल्लेख कर दूं परन्तु यों भी नोटका निबन्ध तो बन ही गया है अतः अब कलेवर बढ़ाना उचित न जानकर केवल अति संक्षिप्तरूपसे इतना ही कहूंगा कि 'भारतीय जैन तीर्थ और उनका शिल्प स्थापत्य' नामक एक ग्रन्थ जैन शिल्प विद्वान् श्री साराभाई नवाबने श्रम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक प्रकट किया है, पर इस संग्रहमें केवल कलात्मक दृष्टिसे ही काम लिया जाता तो ग्रन्थका महत्व निःसंदेह बहुत बढ़ जाता, ऐसे मूल्यवान ग्रन्थोंमें विषयके सार्वभौमिक महत्वपर प्रकाश डालने वाली भूमिका न हो, सबसे बड़ी कमी है। श्वेताम्बर सम्प्रदायसे इन चित्रोंका सम्बन्ध है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्यमें जो भी भाग प्रकट होंगे उनमें इसकी पूर्तिपर समुचित ध्यान दिया जायगा, जब एक नवीन विषयको लेकर कोई भी व्यक्ति समाजमें उपस्थित हों और विषय स्फोटिनी भूमिका न हो तो जिनको शिल्प का सामान्य भी ज्ञान न हो तो वे उसे कैसे तो समझ सकते हैं और क्या ही उनके आन्तरिक मर्मको हृदयङ्गम कर कार्य आगे बढ़ा सकते हैं। "आबू" भी इसी प्रकार है। जैन संस्थाएँ या मुनिवर्ग इसकी उपेक्षा करते हैं। अबसे इसे ध्यानमें रखा जाय।

जैन पुरातत्त्वकी और भी जो शाखाएँ हैं वे मेरे ध्यानसे बाहर नहीं है पर मैं जानबूझ कर उनको यहाँ उल्लिखित नहीं कर रहा हूँ। सम्भव है यदि समय और शक्तिने साथ दिया तो अगले निबन्धमें लिखूँ। इस निबन्धमें सबसे बड़ी कमी जो चित्रोंकी रह गई इसे मैं दुःख पूर्वक स्वीकार करता हूँ। क्योंकि समस्त प्रकृतियोंकी व्यवस्था न सका, एक कारण यह भी है कि निबन्ध लेखन कार्य विहारमें ही हुआ है। यदि किसी भी प्रकारकी स्खलनाएँ रह गई हो तो पाठक मुझे अवश्य ही सूचित करें। जैन संस्कृति प्रेमी भाई बहनोंको एवं गवेषकोंसे मेरा निवेदन है कि वे ऊपर सूचित कार्यमें अधिकसे अधिक सहायता प्रदान करें। यदि किसी भी अंशमें निबन्ध उपयोगी प्रमाणित हुआ हो तो मैं अपना अत्यन्त क्षुद्रप्रयास सफल समझूँगा।

गङ्गासदन, पटनासिटी
ता० १३-५-१९४८

वैशाली-(एक समस्या)

(लेखक—मुनि कान्तिसागर, पटना सिटी)

इसमें कोई संदेह नहीं कि आजके परिवर्तनशील युगमें अज्ञानता वश अपने ही पैरोंसे पूर्वजोंकी कीर्ति-लताकी जड़ कुचली जारही है। जहाँपर आध्यात्मिक ज्योतिको प्रज्वलित करने वाले प्रातः स्मरणीय महा-पुरुषोंने वर्षों तक सांसारिक वासनाओंका परित्याग करें भीषणातिभीषण अकथनीय कष्ट और यातनाओं को सहनकर, किसी भी प्रकारके विघ्नोंकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर आत्मिक विकासके प्रशस्त मार्गपर अग्रसर होनेके लिये एवं भविष्यके मानवके कल्याणार्थ कठोरतम साधनाएँ की थीं, मानव संस्कृति और सभ्यताके उच्चतम विकसित तत्त्वोंकी जहाँपर गम्भीर गवेषणा हुई, मानव ही क्यों, जहाँपर जीवमात्रको सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेका नैतिक अधिकार मिला, "वसुधैवकुटुम्बकम्" जैसे आदर्श वाक्यको जीवनमें चरितार्थ करनेकी योजना जहाँपर सुयोजित हुई, जिस भूमिने अनेकों ऐसे माईके लाल उत्पन्न किये जिन्होंने देश, समाज और सांस्कृतिक तत्त्वोंकी रक्षाके लिये अपनी प्यारी जान तककी हँसते-हँसते बाजी लगादी, अपने चिरंतन आदर्शसे पतित न हुए अपितु अनेकोंको वास्तविक मार्गपर लाये उन पवित्र आत्माओं के संस्मरण जिस भूमिके साथ व्यवहारिक रूपसे जुड़े हुए हों ऐसे स्थानको कोई भी विचारशील, सुसंस्कृत व्यक्ति कैसे भूल सकता है? उनसे आज भी हमें प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है। वहाँके रजःकरण सांस्कृतिक इतिहासके अमर तत्त्वोंसे ओत-प्रोत हैं। जहाँपर पैर रखनेसे हमारे मस्तिष्कमें उच्चतर विचारों की बाढ़ आने लगती है, अतीत फिल्मके अनुसार घूम जाता है, पूर्वकालीन स्वर्णिम स्मृतियाँ एकाएक जागृत हो उठती हैं, हृदयमें तूफान-सा वायुमण्डल थिरकता है, नसोंमें रक्तका दौड़ाव गति पार कर जाता है, रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं, मानव खड़ा-खड़ा न जाने चित्रवत् क्या-क्या खींचता है, कहनेका तात्पर्य यह कि कुछ क्षणोंके जीवनमें आमूल परिवर्तन हो जाता है, हृदयमें उमँगोंकी तरँगें उठती रहती हैं और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार क्षणिक सुखका स्वप्न भासित होने लगता है। कभी आपने सोचा है ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन क्यों होजाता है? तीर्थस्थानोंकी महिमाका यही बहुत बड़ा प्रभाव है। बहुतोंके जीवनमें ऐसे अनुभव अवश्य ही हुए होंगे। मैं तो जब कभी प्राचीन तीर्थस्थान या खण्डहरोंमें पैर रखता हूं तब अवश्य ही ऐसे क्षणिक आनन्दकी घड़ियोंका अनुभव करता हूं। अतः हमारी संस्कृतिके जीवित प्रतीकसम प्राचीन तीर्थस्थानों की रक्षाका प्रश्न अविलम्ब हाथमें लेने योग्य है। ऐसे स्थानोंमें वैशालीकी भी परिगणना सरलतासे की जा सकती है। जैनसाहित्यमें इसका स्थान बहुत गौरव पूर्ण है। ई० स० पूर्व छठवीं शतीमें यह जैनसंस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था, उन दिनों न जाने वहाँ की उन्नति कितनी रही होगी. श्रमण भगवान महावीर स्वामीजीकी जन्मभूमि होनेका सौभाग्य भी अब इसे प्राप्त होने जारहा है। आचाराङ्ग और पवित्र कल्पसूत्रादि जैनसाहित्यके प्रधान ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित हुआ है। गणतंत्रात्मक राज्यशासन पद्धतिका यहींपर परिपूर्ण विकास हुआ था, जिसकी दुहाई आजके युगमें भी दी जारही है। तात्कालिक भगवान महावीर दीक्षित होनेके बाद जिन-जिन नगरोंमें विचरण करते थे उनकी अवस्थिति आज भी नामोंके परिवर्तनके साथ विद्यमान है। कुमार ग्राम, मोराकसन्निवेश आदि-आदि। यों तो वर्तमानमें लछवाड और कुंडलपुर श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायोंके द्वारा क्रमशः जन्म स्थान माने जाते हैं पर वे मेरे ध्यानसे स्थापना तीर्थ रहे होंगे। क्योंकि गत ४ सौ वर्षोंसे ही या इससे कुछ अधिक कालके उल्लेख ही लछवाड़की पुष्टि करते हैं सम्भव है बादमें श्वेताम्बरोंने इसे जन्म स्थान मान लिया हो। इन उभय स्थानोंकी यात्रा करनेका सौभाग्य मुझे इसी वर्ष प्राप्त हुआ है। परन्तु उभय स्थानोंकी वर्तमान स्थितिको देखते हुए यह मानना कठिन-सा प्रतीत होरहा है कि वहाँपर भगवान महावीरका जन्म हुआ होगा; ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थिति इससे संगति नहीं रखती। इस विषयपर अधिक रुचि-रखने वाले महानुभावोंसे मैं निवेदन कर देना चाहूँगा कि वे आचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरिजी कृत "वैशाली" का अध्ययन करें। आपने इसमें गम्भीरताके साथ विश्लेषण किया है।

पुरातत्त्वाचार्य श्रीमान् जिनविजयजी, डॉ० याकोबी और डॉ० हॉर्नलेने बहुत समय पूर्व जैन समाजका ध्यान इस वैशाली की ओर आकृष्ट किया था पर तब बात संदिग्ध थी, किन्तु गत चार वर्षोंसे तो इस आन्दोलनको बड़ा महत्त्व दिया जारहा है। गत वर्ष स्टेटसमैनसे श्रीयुत जगदीशचन्द्र माथुर I. C. S. ने इस ओर जैनोंको फिर खींचा और बतलाया कि वैशाली भगवान् महावीरका जन्म स्थान होनेके कारण उनका एक विशाल स्तम्भ वा स्टेच्यु वहाँ प्रस्थापित किया जाना चाहिये जिससे स्मृति सदाके लिये बनी रहे। आप ही के प्रयत्नोंसे वहाँपर "वैशाली संघ" की स्थापना हुई जिसका प्रधान उद्देश्य पत्र विधान और चतुर्थ वार्षिकोत्सव का मेरे सम्मुख है। संघका प्रधान कार्य इस प्रकार बँटा हुआ है—"वैशालीके प्राचीन इतिहास और संस्कृति तथा इसके द्वारा उपस्थित किये गये प्रजा—सत्तात्मक आदर्शोंमें लोकरुचि जागृत करना, वैशालीके और उसके समीपके पुरातत्त्व सम्बन्धी स्थानोंकी खुदाईके लिये उद्योग करना और उनके संरक्षणमें सहायता देना" इनके अतिरिक्त वैशालीका प्रामाणिक इतिहास और वहाँपर पल्लवित पुष्पित संस्कृतिके गौरव पूर्ण अवशेषोंकी रक्षा एवं उन परसे जागृति प्राप्त कर हर उपायोंसे प्राचीन आदर्श, का—जो यहाँ पूर्वमें थे—पुनरुज्जीवन, पुस्तकालयों वाचनालय, ग्रामीणोंकी सांस्कृतिक दृष्टिसे उन्नति आदि कार्य हैं। भारतवर्षमें योजनाएँ तो सर्वांगपूर्ण बनती हैं पर किसी एक आवश्यक अङ्गपर भी समुचित रूपेण कार्य नहीं होता। केवल प्रतिवर्ष एक शानदार जलसा होजाता है, लोग लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे डालते हैं। अप-टू-डेट निमन्त्रण पत्र छपते हैं। चार दिनकी चहल-पहलके बाद "वही रफ्तार बेढङ्गी" आश्चर्य इस बातका है कि कभी-कभी सभापति ही वार्षिक उत्सवसे गायब। किसी भी ठोस कार्य करने सांस्कृतिक संस्थाके लिये इस प्रकारकी कार्य पद्धति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्नति मूलक नहीं मानी जा सकती। कौंसिल भी इतनी लम्बी जैसा कोई लम्बा और मोटा अजगर होः-

१ सभापति, ११ उपसभापति, ४ मन्त्री, १ कोषाध्यक्ष, ४१ सदस्य। इस चुनावकी परिपाटी भी बिल्कुल असन्तोषजनक है। अधिकांश व्यक्ति एक डिवीजनके हैं या प्रान्तके हैं। इनमेंसे बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति हैं जो भारतीय संस्कृति, सभ्यता और तन्मूलक गवेषणासे अभिरुचि रखते हों या उनका इस दिशामें कुछ ठोस कार्य हो। इसके मन्त्रीजीसे मैंने सदस्योंकी लम्बी सूचीपर कुछ कहा वे कहने लगे कि क्या करें कुछ लोगोंको प्रथम हमने न रक्खा तो उनने संघके विरुद्ध प्रचारकर दिया, अतः उनको रख लिया ऐसी प्रणालिका रहेगी तो मैं तो कहूँगा कि वहाँपर कुछ भी कार्य होने की सम्भावना नहीं है, भले ही वर्तमान पत्रोंमें सुन्दरसे सुन्दर रिपोर्ट छप जाय। दर असल होना तो यह चाहिये था कि सदस्यताका एक हिस्सा उन लोगोंके लिये छोड़ दिया जाता, जो इतिहास पुरातत्त्व आदि संशोधनके विषयोंसे रात दिन सर पचाते रहते हैं भले ही वे इतर प्रान्तोंके ही क्यों न हों। डॉ० निहाररञ्जनराय, डॉ० कालीदास नाग, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० आर० सी० मजूमदार, डॉ० भाँडारकर, डॉ० ताराचन्द (पटना) भट्टाचार्य, डॉ० अल्तेकर, पी० के गोड M. A., डॉ० हँसमुख सांकलिया आदि महानुभावोंका रहना अनिवार्य है जो खनन और पुरातत्त्व तथा इतिहासकी शाखाओंके विद्वान हैं। ११ जैनोंको भी शामिल कर लिया है, मुझे कहना होगा कि कुछ और जैन श्रीमन्तोंके साथ विद्वानोंको भी रखना चाहिये, यदि सांस्कृतिक विकास का प्रश्न है तो।

चतुर्थ अधिवेशनमें प्रस्ताव पास किये गये हैं उनमें एक जैन मन्दिर बनवानेका भी है, मन्दिर जैनीही अपने रुपयोंसे बनवायें। परन्तु संघके वर्तमान कोषाध्यक्ष श्रीमान् कमलसिंहजी बदलियाने मुझे ता० ४-७-४८ को बताया कि हमें वहाँपर जैन मन्दिर निर्माण नहीं करवाना; परन्तु लायब्रेरी बनाना है। जब महावीरकी स्मृति कायम रखना है और मन्दिर नहीं बनाना यह बात कुछ स्वार्थ प्रेरित तत्त्वोंकी सूचना देती है। मन्दिर नहीं बनाना तो जैनोंको बार-बार प्रोत्साहित ही क्यों किया जाता है ? मैं तो चाहूँगा कि वहाँ मन्दिर जरूर बने पर वह लम्बा चौड़ा न बनकर एक ऐसा सुन्दर और कलापूर्ण निर्मित हो जिसमें मागधीय शिल्प स्थापत्य कलाके प्रधान सभी तत्त्वों का समीकरण हो, प्राचीन शिल्पकी ही अनुकृति हो, दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंका संयुक्त मन्दिर होना चाहिये। सङ्गठनका यही आदर्श है। अब तो समय आगया है दोनों मिलकर जैन संस्कृतिका अनुष्ठान करें। दोनों समाजोंने झँझटें खड़ीकर संस्कृतिको विकृतिके रूपमें परिणितकर दिया है। अच्छा हो वैशालीसे ही इस सङ्गठन और असाम्प्रदायिक भावों का विकास-प्रचार हो। वाचनालय बनाना यह तो सर्वथा उपयुक्त है ही।

मेरे पास कुछ पत्र आये हैं कि वैशालीमें यदि मन्दिर निर्मित हो तो पैसे कहाँ भेजे जायें ? मैं स्पष्ट राय तो यही दूंगा कि जब तक एक समिति नियुक्त नहीं होजाती—जिसमें विश्वसनीय समाजसेवी कार्यकर्ता हों—तब तक रुपये कहींपर भी न भेजें। और सावधानीसे काम लें; एक० यक्तिके भरोसेपर विश्वास कर आर्थिक सहायता भेजना कभी-कभी बुरा नतीजा मोल ले लेना है। खेदकी बात तो यह है कि पटना, बिहार आदिके जैन गृहस्थों की भी इस काममें कोई खास सामूहिक रुचि नहीं है¹। मैं पटनासे ही इन पंक्तियोंको लिख रहा हूँ।

अन्तमें मैं यह सूचित कर देना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ कि वैशाली संघके कार्यकर्ता अपनी कार्य प्रणाली और सदस्योंके चुनावमें बुद्धिमानीसे काम लें तो भविष्यमें बिहारका सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ेगा और वैशाली भी विगत गौरवको प्राप्त कर आर्यसंस्कृतिको अभूतपूर्व विकास केन्द्रका स्थान ग्रहण कर सकेगी।

१ सर्वप्रथम संघवालोंका परम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि जैनसमाजमें वैसा वायुमण्डल तैयार करें कमसे कम वैशालीके नजदीकके जैनोंको तो प्रोत्साहित करें ही।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दान-विचार

(लेखक—श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी, न्यायाचार्य)

हमारी समाजमें दान करनेकी प्रथा है। किन्तु दान क्या पदार्थ है इसके करनेकी क्या विधि है प्रायः इसमें विषमता देखी जाती है। अतः मैं इसपर कुछ अपने विचार प्रकट करता हूं।

[वि. नरेन्द्र जैन काशी गत ग्रीष्मावकाशमें सागर गये थे। वहाँ पूज्य वर्णीजीके पुराने कागजोंके ढेरमें उन्हें वर्णीजीके ४, ६ महत्वपूर्ण लेख मिले हैं। यह बहुमूल्य लेख उन्हीं लेखोंमेंसे एक है। यद्यपि यह लेख २७ वर्ष पहले लिखा गया था और इसलिये प्राचीन है तथापि उसमें पाठकोंके लिये आधुनिक नये विचार मिलेंगे और दानके विषयमें कितनी समस्याओंका हल तथा समाजमें चल रही अन्धाधुन्ध दान-प्रवृत्तियोंका उचित मार्ग दर्शन मिलेगा। वास्तवमें 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'के अनुसार यह लेख प्राचीनतामें भी नवीनताको लिये हुए है और इस लिये अपूर्व एवं सुन्दर है। उसे वि. नरेन्द्रने अपने अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ भेजा है। अतः सधन्यवाद यहाँ दिया जाता है। देखें, समाज आगामी पर्यूषणपर्वमें, जो बिल्कुल नजदीक है और जिसमें मुख्यतः दान किया जाता हैं, अपनी दान प्रवृत्तिको कहाँ तक बदलती है ? —कोठिया

दानकी आवश्यकता

द्रव्यदृष्टिसे जब हम अन्तःकरणमें परामर्श करते हैं तब यही प्रतीत होता है कि सब जीव समान हैं। इस विचारसे समानतारूपमें तो दानकी आवश्यकता नहीं; किन्तु पर्यायदृष्टिसे सर्व आत्माएँ विभिन्न-विभिन्न पर्यायोंमें स्थित हैं। कितनी ही आत्माएँ तो कर्मकलङ्क-उन्मुक्त हो सर्व अनन्तसुखके पात्र होचुकीं हैं। कितने ही प्राणी सुखी देखे जाते हैं। और कितने ही दुखी देखे जाते हैं। बहुतसे अनेक विद्याके पारगामी विद्वान् हैं। और बहुतसे नितान्त मूर्ख दृष्टिगोचर होरहे हैं। बहुतसे सदाचारी और पापसे पराङ्मुख हैं, तब बहुत से असदाचारी और पापमें तन्मय हैं। कितने ही बलिष्टताके मदमें उन्मत्त हैं, तब बहुतसे दुर्बलतासे खिन्न होकर दुखभार वहन कर रहे हैं। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो उसकी पूर्ति कर परोपकार करना चाहिए। उमास्वामीने भी कहा है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (जीवोंका परस्पर उपकार हुआ करता है)। सर्वोत्तम पात्र तो मुनि हैं उनकी शरीरकी स्थितिके अर्थ भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए।

पात्र मनुष्योंकी तीन श्रेणियां

१—इस जगतमें अनेक प्रकारके मनुष्य देखे जाते हैं, कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं जो जन्मसे ही नीतिशाली और धनाढ्य हैं।

२—कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुए हैं। उन्हें शिक्षा पानेका, नीतिके, सिद्धान्तोंके समझनेका अवसर ही नहीं मिलता।

३—कुछ मानवगण ऐसे हैं जिनका जन्म तो उत्तम कुलमें हुआ है किन्तु कुत्सित आचरणोंके कारण अधम अवस्थामें काल-यापन कर रहे हैं।

इनके प्रति हमारा कर्तव्य

जो धनवान् तथा सदाचारी हैं अर्थात् प्रथमश्रेणी-के मनुष्य हैं उन्हें देखकर हमको प्रसन्न होना चाहिए। तदुक्तं— गुणिषु प्रमोदम्" उनके प्रति ईर्ष्यादि नहीं करना चाहिए।

द्वितीय श्रेणीके जो दरिद्र मनुष्य हैं उनके कष्ट-अपहरणके अर्थ यथाशक्ति दान देना चाहिए। तदुक्तम्—"परानुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" तथा उनको सत्य सिद्धान्तोंका अध्ययन कराके सन्मार्गपर स्थिर करना चाहिए। तृतीय श्रेणीके मनुष्योंको साम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यिक सत्शिक्षा और सदुपदेशोंसे सुमार्गपर लाकर उन्हें उत्थान पथका पथिक बनाना चाहिए। शक्ति होते हुए भी यदि उसका विनियोग न किया जावे तो एक प्रकारका घातकीपन है। श्रेणीके पहले मुनि लोगोंकी भी भावना संसारके उद्धारकी रहती है। जो मनुष्य दयाके कार्योंको नहीं करते वे भयङ्कर पाप करनेवाले हैं। अतएव यथाशक्ति दुःखियोंके दुःख दूर करनेका यत्न प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिए। बहुतसे भाइयोंकी ऐसी धारणा होगई कि पात्रोंके बिना दान देना केवल पापबन्धका करने वाला है। उन्हें इन पं० रांजमल्लके वाक्योंका स्मरण करना चाहिए:—

दानं चतुर्विधं देयं, पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः॥
सुपात्रायाप्यपात्राय, दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्या-न्निषिद्धनं कृपाधिया॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्यो शभोदयात्।
दीनेभ्योऽभयदानादि, दातव्यं करुणार्णवैः॥
(पञ्चाध्यायी ....)

तृतीय श्रेणीके मनुष्य जो कुमार्गके पथिक होचुके हैं, तथा जिनकी अधम स्थिति होचुकी है वह भी दयाके पात्र हैं। उनको दुष्ट आदि शब्दोंसे व्यवहार कर छोड़ देनेसे कार्य्य नहीं चलेगा। किन्तु उन्हें भी सन्मार्गपर लगानेका प्रयत्न करना चाहिए। जैनधर्म तो प्राणिमात्रके हितका कर्ता है सूकर, सिंह, नकुल, बानर तक जीवोंको उपदेशका पात्र इसके द्वारा हुआ मनुष्योंकी कथा तो दूर रही। तथा श्री विद्यानन्दिने भी कहा है कि—जो दुष्ट और असदाचारी हैं वह सद्धर्मको न जानकर इस उदाहरणके जालमें फँस गये हैं। अतएव ऐसे जो प्राणी हैं वह धिक्कारके पात्र नहीं प्रत्युत आपके द्वारा दयाके पात्र हैं। उनके ऊपर अत्यन्त सोम्यभाव रखते हुए सम्यगुपदेशों द्वारा उन्हें सन्मार्गपर लगाना प्रत्येक दयाशील मनुष्यका कर्तव्य है।

दानके भेद

इस दानके आचार्योंने संक्षेपसे ४ भेद बतलाये हैं। (१) आहार (२) औषध (३) अभय (४) ज्ञान।

१—आहारदान और औषधिदान

जो मनुष्य क्षुधासे क्षामकुक्षि एवं जर्जर होरहा है तथा रोगसे पीडित है। सबसे प्रथम उसके क्षुधा आदि रोगोंको भोजन औषधि देकर निवृत्त करना चाहिए। आवश्यकता इसी बातकी है। क्योंकि "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" (भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं करता) इससे किसी कविने कहा है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं" तथा शरीरके नीरोग रहने पर बुद्धिका विकाश होता है; तदुक्तं—"स्वस्थ-चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति" तथा ज्ञान और धर्मके अर्जन का यत्न होता है। शरीरके नीरोग न रहनेपर विद्या और धर्मकी रुचि मन्द पड़ जाती है अतएव अन्न-जल आदि औषधि द्वारा दुःखसे दुःखी प्राणियोंके दुःखका अपहरण करके उन्हें ज्ञानादिके अभ्यासमें लगानेका यत्न प्रत्येक प्राणीका मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। जिससे ज्ञान द्वारा वह यथार्थवस्तुका जान कर प्राणी इस संसारके जालमें न फँसे।

ज्ञानदान

[1]अन्नदानकी अपेक्षा विद्यादान अत्यन्त उत्तम है। क्योंकि अन्नसे प्राणिकी क्षणिक तृप्ति होती है किन्तु विद्यादानसे शास्वती तृप्ति होती है।

विद्याविलासियोंको एक अद्भुत मानसिक सुख होता है, इन्द्रियोंके विलासियोंको वह सुख अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि वह सुख स्व-स्वभावोत्थ है जब कि इन्द्रियजन्य सुख पर जन्य है।

अभयदान

इसी तरह अभयदान भी एक दान है, यह भी बड़ा महत्वशाली दान है। इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्रको ही नहीं, अपितु प्राणीमात्रको अपने शरीरसे प्रेम होता है। बाल हो अथवा युवा हो, आहोस्वित्, वृद्ध हो, परन्तु मरना किसीको इष्ट नहीं। मरते हुए प्राणिकी अभयदानसे रक्षा करना बड़े ही महत्व और शुभबन्धका कारण है। ऐसी रक्षा करने

१ अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्याजीवं तु विद्यया।

वाले मनुष्योंको शास्त्रमें परोपकारी, धर्मात्मा आदि शब्दोंसे सम्बोधित कर सम्मानित किया है।

धर्मदान

इस अभय दानसे भी उत्तम धर्मदान है। इस परमोत्कृष्ट दानके प्रमुख दानी तीर्थङ्कर महाराज तथा गणधरादि देव हैं। इसीलिये आप्तके विशेषणोंमें "मोक्षमार्गस्य नेत्तारम्" (मोक्षमार्गके नेता) यह प्रथम विशेषण दिया गया है। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, यहाँ तक कि चक्रवर्तियोंने भी बड़े-बड़े दान दिये किंतु संसारमें उनका आज कुछ भी अवशिष्ट नहीं है। तथा तीर्थङ्कर महाराजने जो उपदेश द्वारा दान दिया था उसके द्वारा बहुतसे जीव तो उसी भवसे मुक्तिलाभ कर चुके और अब तक भी अनेक प्राणी उनके बताये सन्मार्गपर चलकर लाभ उठा रहे हैं। भव-बन्धन परम्पराके पाशसे मुक्त होंगे, तथा आगामीकालमें भी उस सुपथपर चलनेवाले उस अनुपम सुखका लाभ उठावेंगे। कितने प्राणी उस पवित्र धर्मोपदेशसे लाभ उठावेंगे यह कोई अल्पज्ञानी नहीं कर सकता।

धर्मदानके वर्तमान दातार

वर्तमानमें गणधर, आचार्य आदि परम्परासे यह दान देनेकी योग्यता संसारसे भयभीत, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह विहीन, ज्ञान-ध्यान-तपमें आसक्त, वीतराग, दिगम्बर मुनिराजके ही हैं। क्योंकि जब हम स्वयं विषय कषायोंसे दग्ध हैं तब क्या इस दानको करेंगे। जो वस्तु अपने पास होती है वही दान दी जासकती है। हम लोगोंने तो उस धर्मको जो कि आत्माकी निज परणति है; कषायाग्निसे दग्ध कर रक्खा है। यदि वह वस्तु आज हमारे पास होती तब हम लोग दुःखोंके पात्र न होते। उसके बिना ही आज संसारमें हमारी अवस्था कष्टप्रद होरही है। उस धर्मके धारक परम दिगम्बर निरपेक्ष परोपकारी; विश्वहितैषी वीतराग ही हैं अतएव वही इस दानको कर सकते हैं। इसीसे उसे गृहस्थदानके अन्तर्गत नहीं किया।

धर्मदानकी महत्ता

यह दान सभी दानोंमें श्रेष्ठतम है, क्योंकि इतर दानोंके द्वारा प्राणी कुछ कालके लिये दुःखसे विमुक्त-सा होजाता है परन्तु यह दान ऐसा अनुपम और महत्वशाली है कि एक बार भी यदि इसका सम्पर्क होजावे तो प्राणी जन्म-मरणके क्लेशोंसे विमुक्त होकर निर्वाणके नित्य आनन्द सुखोंका पात्र होजाता है। अतएव सभी दानोंकी अपेक्षा इस दानकी परमावश्यकता है। धर्मदान ही एक ऐसा दान है जो प्राणियोंको संसार दुःखसे सदाके लिये मुक्तकर सच्चे सुखका अनुभव कराता है।

अपनी आत्मताडनाकी परवाह न करके दूसरोंके लिये मीठे स्वर सुनाने वाले मृदङ्गकी तरह जो अपने अनेक कष्टोंकी परवाह न कर विश्वहितके लिये निरपेक्ष निस्वार्थ उपदेश देते हैं वे महात्मा भी इसी धर्मदानके कारण जगत पूज्य या विश्ववन्द्य हुए हैं।

जब तक प्राणीको धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती तब तक उसके उच्चतम विचार नहीं होते, और उन विचारों के अभावमें वह प्राणी उस शुभाचरणसे दूर रहता है जिसके बिना वह लौकिक सुखसे भी वञ्चित रहकर धोबीके कुत्तेकी तरह "घरका न घाटका" कहींका भी नहीं रहता। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि* "वही जीव सुखी रह सकते हैं जो या तो नितान्त मूर्ख हों, या पारङ्गत दिग्गज विद्वान हों।" अतः जो इस दानके करने वाले हैं वही संसारमें पूज्य और धर्म संस्थापक कहे जाते हैं।

इसी तरह धर्मदानकी महत्ता जानकर हमें उस दानको प्राप्त करनेका पात्र होना चाहिये। सिंहनीका दूध स्वर्णके पात्रमें रह सकता है, धर्मदान सम्यग्ज्ञानी पात्रमें रह सकता है।

लौकिक दान

उक्त दानोंके अतिरिक्त लौकिक दान भी महत्वपूर्ण दान है जगतमें जितने प्रकारके दुःख हैं उतने ही भेद लौकिक दानके हो सकते हैं परन्तु मुख्यतया जिनकी आज आवश्यकता है वे इस प्रकार हैं—

---

*यश्च मूढ़तमो लोके, यश्च बुद्धेः परांगतः।
तावुभौ सुख मेधेते, क्लिश्यन्तीतरे जनाः॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१—बुभुक्षित प्राणीको भोजन देना।

२—तृषितको पानी पिलाना।

३—वस्त्रहीनको वस्त्र देना।

४—जो जातियाँ अनुचित पराधीनताके बन्धनमें पड़कर गुलाम बन रही हैं उनको उस दुःखसे मुक्त करना।

५—जो पापकर्मके तीव्र वेगसे अनुचित मार्गपर जारहे हैं उन्हें सन्मार्गपर लानेकी चेष्टा करना।

६—रोगीकी परिचर्या और चिकित्सा करना, कराना।

७—अतिथिकी सेवा करना।

८—मार्ग भूले हुए प्राणीको मार्गपर लाना।

९—निर्धन व्यापारहीनको व्यापारमें लगाना।

१०—जो कुटुम्ब-भारसे पीडित होकर ऋण देने में असमर्थ हैं उन्हें ऋणसे मुक्त करना।

११—अन्यायी मनुष्योंके द्वारा सताये जाने वाले मारे जाने वाले दीन, हीन, मूक प्राणियोंकी रक्षा करना।

आध्यात्मिक दान

जिस तरह लौकिक दान महत्वपूर्ण है उसी तरह एक आध्यात्मिक दान भी महत्वपूर्ण और श्रेयस्कर है। क्योंकि आध्यात्मिक दान स्वपर-कल्याण-महल की नीव है। वर्तमानमें जिन आध्यात्मिक दानोंकी आवश्यकता है वे यह हैं—

१—अज्ञानी मनुष्योंको ज्ञान दान देना।

२—धर्ममें उत्पन्न शङ्काओंका तत्वज्ञान द्वारा समाधान करना।

३—दुराचरणमें पतित मनुष्योंको हित-मित वचनों द्वारा सान्त्वना देकर सुमार्गपर लाना।

४—मानसिक पीड़ासे दुखी जीवोंको कर्मसिद्धांत-की प्रक्रियाका अवबोध कराकर शान्त करना।

५—अपराधियोंको उनके अज्ञानका दोष मानकर उन्हें क्षमा करना।

*६—सभीका कल्याण हो, सभी प्राणी सन्मार्ग-गामी हो, सभी सुखी समृद्ध और शान्तिके अधिकारी हों।

७—जो धर्ममें शिथिल होगये हों उनको शुद्ध उपदेश देकर दृढ़ करना।

८—जो धर्ममें दृढ़ हों उन्हें दृढ़तम करना।

९—किसीके ऊपर मिथ्या कलङ्कका आरोप न करना।

१०—अशुभ क्रमके प्रबल प्रकोपसे यदि किसी प्रकारका अपराध किसीसे बन गया हो तो उसे प्रकट न करना अपितु दोषी व्यक्तिको सन्मार्गपर लानेकी चेष्टा करना।

११—मनुष्यको निर्भय बनाना।

संक्षेपमें यह कहा जासकता है कि जितनी मनुष्य की आवश्यकताएँ हैं उतने ही प्रकारके दान होसकते हैं। अतः जिस समय जिस प्राणीको जिस बातकी आवश्यकता हो उसे धर्मशास्त्र विदित मार्गसे यथा शक्तिपूर्ण करना दान है।

दुःख अपहरण उच्चतम भावना प्राप्त करनेका सुलभ मार्ग यदि है तो वह दान ही है अतः जहाँ तक बने दुखियोंका दुख दूर करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहो, हित मित प्रिय वचनोंके साथ यथाशक्ति मुक्त हस्तसे दान दो।

दानके अपात्र

दान देते समय पात्र अपात्रका ध्यान अवश्य रखना चाहिये अन्यथा दान लेने वालेकी प्रवृत्तिपर दृष्टिपात न करनेसे दिया हुआ दान ऊसर भूमिमें बोये गये बीजकी तरह व्यर्थ ही जाता है। जो विषयी हैं, लम्पटी हैं, नशेबाज हैं, ज्वारी हैं, पर वञ्चक हैं, उन्हें द्रव्य देनेसे एक तो उनके कुकर्मकी पुष्टि होती है, दूसरे

*क्षेमं सर्वप्रजानां; प्रभवतु बलवान्, धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशं।
दुर्भिक्षं चौर मारी, क्षणमपि जगतां, मास्माभूज्जीव लोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं, प्रभवतु सततं, सर्वसौख्यप्रदायि॥
(शान्तिपाठ)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दरिद्रोंकी वृद्धि और आलसी मनुष्योंकी संख्या बढ़ती है और तीसरे अनर्थ परम्पराका बीजारोपण होता है परन्तु यदि ऐसे मनुष्य बुभुक्षित या रोगी हों तो उन्हें (दान दृष्टिसे नहीं अपितु) कृपादृष्टिसे अन्न या औषधि दान देना वर्जित नहीं है। क्योंकि अनुकम्पा दान देना प्राणीमात्रके लिये है।

दान देनेमें हेतु

दान देनेमें प्राणियोंके भिन्न-भिन्न हेतु होते हैं। स्थूलदृष्टिसे परके दुःखको दूर करनेकी इच्छा सर्व साधारणकी कही जासकती है, परन्तु पृथक्-पृथक् दातारोंके भिन्न-भिन्न पात्रोंमें दान देनेके हेतुओंपर यदि आप सूक्ष्मतम दृष्टिसे विचार करेंगे तब विभिन्न अनेक कारण दिखाई पड़ेंगे। उन हेतुओंमें जो सर्वोत्तम हेतु हो वही हमको ग्रहण करना चाहिये। १–कितने ही मनुष्य परका दुःख देख उन्हें अपनेसे जघन्य स्थिति में जानकर "दुखियोंकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है" ऐसा विचारकर दान करते हैं। २–कितने ही मनुष्य दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिये, परलोकमें सुख प्राप्ति और इस लोकमें प्रतिष्ठा (मान) के लिये दान करते हैं। ३–और कुछ लोग अपने नामके लिये कीर्ति पानेका लालच और जगतमें वाहवाहीके लिये अपने द्रव्यको परोपकारमें दान करते हैं।

दातारके भेद

मुख्यतया दातारके तीन भेद होते हैं १–उत्तम दातार २–मध्यम दातार और ३–जघन्य दातार।

उत्तम दातार

जो मनुष्य निःस्वार्थ दान देते हैं, पराये दुःखको दूर करना ही जिनका कर्तव्य है, वही उत्तम दातार हैं परोपकार करते हुए भी जिनके अहम्बुद्धिका लेश नहीं वही सम्यक्दानी हैं और वही संसार सागरसे पार होते हैं; क्योंकि निष्काम (निस्वार्थ) किया गया कार्य बन्धका कारण नहीं होता। जो मनुष्य इच्छापूर्वक कार्य करेगा उसे कार्य सिद्धान्तके अनुसार तज्जन्य बन्धका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। और जो निष्काम वृत्तिसे कार्य करेगा उसके इच्छाके बिना कायादिकृत व्यापार बन्धके उत्पादक नहीं होते। अथवा यों कहना चाहिये कि जो सर्वोत्तम मनुष्य हैं वे बिना स्वार्थ ही दूसरेका उपकार किया करते हैं। और उन्हीं विशुद्ध परिणामोंके बलसे सर्वोत्तम पदके भोक्ता होते हैं। जैसे प्रखर सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त जगतको शीतांशु (चन्द्रमा) अपनी किरणों द्वारा निरपेक्ष शीतल कर देता है, उसी प्रकार महान पुरुषोंका स्वभाव है कि वे संसार-तापसे सन्तापित प्राणियोंके तापको हरण कर लेते हैं।

मध्यम दातार

जो पराये दुःखको अपने स्वार्थके लिये दान करते हैं वह मध्यम दातार हैं। क्योंकि जहाँ इनके स्वार्थमें बाधा पहुँचती है वहींपर यह परोपकारके कार्यको त्याग देते हैं। अतः इनके भी वास्तविक दयाका विकास नहीं होता परन्तु धनकी ममता अत्यन्त प्रबल है, धनको त्यागना सरल नहीं है, अतः इनके द्वारा यदि अपनी कीर्तिके लिये ही धनका व्यय किया जावे किन्तु जब उससे दूसरे प्राणियोंका दुःख दूर होता है तब परकी अपेक्षासे इनके दानको मध्यम कहनेमें कोई संकोच न करेगा। क्योंकि वह दान ऐसे दान करने वालेके आत्म-विकासमें प्रयोजक नहीं हैं।

जघन्य दातार

जो मनुष्य केवल प्रतिष्ठा और कीर्तिके लालचसे दान करते हैं वे जघन्य दातार हैं। दानका फल लोभ निरशनपूर्वक शान्ति प्राप्त होना है, वह इन दातारोंको नहीं मिलता। क्योंकि दान देनेसे शान्तिके प्रतिबन्धक आभ्यन्तर लोभादि कषायका अभाव होता है अतएव आत्मामें शान्ति मिलती है। जो कीर्तिप्रसारकी इच्छासे देते हैं उनके आत्म-सुख गुणके घातक कर्मकी हीनता तो दूर रही प्रत्युत बन्ध ही होता है। अतएव ऐसे दान देने वाले जो मानवगण हैं उनका चरित्र उत्तम नहीं। परन्तु जो मनुष्य लोभके वशीभूत होकर १ पाई भी व्यय करनेमें संकोच करते हैं उनसे यह उत्कृष्ट है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पापका बाप लोभ

लोभके आवेगमें मनुष्य किन-किन नीच कृत्योंको नहीं करते ? और कौन-कौनसे दुःखोंको भोगकर दुर्गतिके पात्र नहीं होते यह उन एक दो ऐतिहासिक व्यक्तियोंके जीवनसे स्पष्ट होजाता है। जिनका नाम इतिहासके काले पृष्ठोंमें लिखा रह जाता है।

गजनीके शासक, लालची लुटेरे महमूद गजनवीने १००० और १०२६के बीच २६ वर्षमें भारतवर्षपर १७ वार आक्रमण किया, धन और धर्म लूटा ! मन्दिर और मूर्तियोंका ध्वंसकर अगणित रत्नराशि और अपरमित स्वर्ण चाँदी लूटी !! परन्तु जब इतनेपर भी लोभका संवरण नहीं हुआ तब सोमनाथ मन्दिरके काठके किवाड़ और पत्थरके खम्भे भी न छोड़े, ऊँटोंपर लादकर गजनी ले गया !!!

दूसरा लोभी था (ईशवी सनके ३२७ वर्ष पूर्व) ग्रीसका बादशाह सिकन्दर; जिसने अनेक देशोंको परास्तकर उनकी अतुल सम्पत्ति लूटी, फिर भी सारे संसारको विजित करके संसार भरकी सम्पत्ति हथयाने की लालसा बनी रही !

लोभके कारण दोनोंका अन्त समय दयनीय दशामें व्यतीत हुआ। लालच और लोभमें हाय ! हाय !! करते मरे, पर इतने समर्थ शासक होते हुए भी एक फूटी कौड़ी भी साथ न ले जा सके।

दयाका क्षेत्र

१—प्रथम तो दयाका क्षेत्र अपनी आत्मा है, अतः उसे संसारवर्धक दुष्ट विकल्पोंसे बचाये रहना, सम्यग्दर्शनादि दान द्वारा सन्मार्गमें लानेका उद्योग करते रहना चाहिये। दूसरे दयाका क्षेत्र २ अपना निज घर है फिर ३ जाति ४ देश तथा ५ जगत है अन्तमें जाकर यही—"वसुधैव कुटुम्बकम्" होजाता है।

अनुरोध

इस पद्धतिके अनुकूल जो मनुष्य स्वपरहितके निमित्त दान देते हैं वही मनुष्य साक्षात् या परम्परामें अतीन्द्रिय अनुपम सुखके भोक्ता होते हैं। अतएव आत्म-हितैषी महाशयोंका कर्तव्य है कि समयानुकूल इस दानपद्धतिका प्रसार करें। भारतवर्षमें दानकी पद्धति बहुत है किन्तु विवेककी विकलताके कारण दानके उद्देश्यकी पूर्ति नहीं हो पाती।

ऊसर जमीनमें, पानीसे भरे लबालब तालाबमें, सार और सुगन्धि हीन सेमर वृक्षोंके जङ्गलमें, दावानलमें व्यर्थ ही धधकने वाले बहुमूल्य चन्दनमें यदि मेघ समानरूपसे वर्षा करता है तो भले ही उसकी उदारता प्रशंसनीय कही जा सकती है परन्तु गुणरत्न पारखी वह नहीं कहला सकता। इसी तरह पात्र अपात्रकी, आवश्यकताकी पहिचान न कर दान देने वाला उदार कहा जा सकता है परन्तु गुणविज्ञ वह नहीं कहला सकता। आशा है हमारा धनिक वर्ग उक्त बातोंपर ध्यान देते हुए पद्धतिके अनुकूल ही दान देकर सुयशके भागी बनेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुरारमें वीरशासन-जयन्तीका महत्वपूर्ण उत्सव

इस वर्ष वीरसेवामन्दिर, सरसावा द्वारा आयोजित वीर-शासन-जयन्तीका महत्वपूर्ण उत्सव श्री क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यकी अध्यक्षतामें श्रावण कृष्णा १, २ ता० २२, २३ जुलाई १९४८, बृहस्पतिवार, शुक्रवारको मुरार (ग्वालियर) में सेठ गुलाबचन्द गणेशीलालजी जैन रईस मुरारके विशाल उद्यानमें बड़े समारोहके साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। उत्सवमें भाग लेनेके लिये वन्दनीय त्यागीवर्गके अलावा विविध स्थानोंसे अनेक प्रमुख विद्वान् और श्रीमान् पधारे थे। विद्वानोंमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर सरसावा, पंडित राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ मथुरा, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं० दयाचन्द्रजी शास्त्री सागर, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य सरसावा, प्रोफेसर पन्नालालजी बनारस, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ ललितपुर, पं० परमानन्दजी शास्त्री सरसावा, बा० अयोध्याप्रसादजी गोयलीय डालमियानगर, बा० ज्ञानचन्दजी जैन कोटा, मास्टर शिवरामजी रोहतक, आदिके नाम उल्लेखनीय हैं और श्रीमानोंमें लाला महावीरप्रसादजी ठेकेदार देहली, ला० रतनलालजी मादीपुरिया देहली, ला० राजकृष्णजी देहली, रायबहादुर बा० उल्फतरायजी देहली, ला० मक्खनलालजी ठेकेदार देहली, बा० महताबसिंहजी सर्राफ देहली, बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली, बा० नन्दलालजी कलकत्ता (बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ताके लघुभ्राता), ला० चतरसेनजी सरधना, ला० त्रिलोकचन्दजी खतौली, ला० हुकुमचन्दजी सलावा आदिके नाम उल्लेख योग्य हैं। ग्वालियर, लश्कर, भिंड, मोरेना, जबलपुर आदिके भी कितने ही सज्जन उत्सवमें सम्मिलित हुए थे। त्यागीवर्ग भी कम नहीं था, श्री क्षुल्लक पूर्णसागरजी, श्री क्षुल्लक विशालकीर्तिजी, ब्र० चिदानन्दजी, ब्र० सुमेरुचन्दजी भगत, ब्र० कस्तूरचन्दजी नायक, ब्र० मूलशङ्करजी आदि वन्दनीय त्यागी मण्डलसे उत्सव विशेष शोभनीय था। श्रीमती विदुषीरत्न पं० ब्र० सुमतिबाईजी न्याय-काव्यतीर्थ सोलापुर जैसी महिलाएँ भी अपनी समाजके प्रतिनिधित्वकी कमीको दूर करती हुई उत्सव में शामिल हुई थीं।

यद्यपि २१ और २२ जुलाईको लगातार वर्षा होती रही और वर्षा होते रहनेसे प्रभातफेरी नहीं होसकी, पर झण्डाभिवादन बड़े भारी जनसमूहके मध्यमें कुछ बूँदाबाँदीके होते हुए भी अपूर्व उत्साहके साथ सम्पन्न हुआ। पूज्य वर्णीजीने झण्डा फहराते हुए कहा कि इसी प्रकार वीरके शासनको ऊँचा रखें—अपने आचरण द्वारा उसे उच्च बनायें और वीर जैसे वीतरागी वीर—विश्वकल्याण कर्ता बनें।

दोपहरको श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीकी अध्यक्षतामें जल्सा प्रारम्भ हुआ। पं०परमेष्ठीदासजीने मङ्गलाचरण किया। इसके बाद बा० हीरालालजी मुरारका स्वागतभाषण हुआ, जिसमें आपने आगन्तुक सज्जनोंका स्वागत करते हुए कष्टके लिए क्षमायाचना की। इसके अनन्तर अध्यक्षजीका महत्वका मुद्रित भाषण हुआ, जिसे लाउडस्पीकरके काम न देनेके कारण पं० चन्द्रमौलिजीने पढ़कर सुनाया और जो अनेकान्तमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है। पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यने बाहरसे आये सन्देशों और शुभकामनाओंको सुनाया। साथ ही वीरसेवामन्दिरके अब तकके अनुसंधान, साहित्य और इतिहास निर्माण सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्योंका संक्षेपमें परिचय दिया। संदेश और शुभकामनाएँ भेजनेवालोंमें भारतके प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, सर सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौर, सर सेठ भागचन्द

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जी सोनी अजमेर, रायबहादुर सेठ हीरालालजी इन्दौर, बा० निर्मलकुमारजी जैन आरा, ला० कपूरचन्दजी कानपुर, साहू श्रेयांसप्रसादजी बम्बई, सेठ लालचन्दजी सेठी उज्जैन, सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या इन्दौर, सेठ रतनचन्द चुन्नीलाल झवेरी बम्बई, वैद्यरत्न हकीम कन्हैयालालजी कानपुर, बा० मानिकचन्दजी सरावगी कलकत्ता, बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता, बा० नेमचन्द बालचन्दजी गाँधी सोलापुर, बा० लालचन्दजी एडवोकेट रोहतक, बा० नानकचन्द जी एडवोकेट रोहतक, बा० उग्रसेनजी वकील रोहतक बा० जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत, पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर, पं० चैनसुखदासजी जयपुर पं० जगन्मोहनलालजी कटनी, ला० परसादीलालजी पाटनी देहली, ला० तनसुखरायजी देहली, सिं० गनपतलालजी गुरहा खुरई, बा० कामताप्रसादजी अलीगञ्ज, पं० तुलसीरामजी बड़ौत, सेठ चिरञ्जीलाल जी बड़जात्या वर्धा, पं० भुजबलीजी शास्त्री मूडबिद्री, पं० बलीद्रजी सम्पादक 'जैन सन्देश' आगरा प्रभृति महानुभाव हैं। पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं० कैलाशचंद्र जी शास्त्री और पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थके वीर-शासनपर महत्वके भाषण हुए। पं० राजेन्द्रकुमारजीने जब वीरसेवामन्दिरके कार्योंका उल्लेख करते हुए मुख्तार सा०की जैन-साहित्य और इतिहासके लिये की गई सेवाओंपर गर्व प्रकट किया और वीरसेवा-मन्दिरको इतिहासनिर्माणकी ओर मुख्यतः गति करने पर जोर दिया तब मुख्तार सा० ने एक मार्मिक भाषण दिया जिसमें आपने वीरसेवामन्दिरकी आवश्यकताओं तथा अपनी इच्छाओं और प्रवृत्तियोंको व्यक्त करते हुए समाजको सच्चा सहयोग देने एवं वीरसेवामन्दिर को पूर्णतः अपनाकर उसे देहलीमें विशालरूप देनेके लिये प्रेरित किया। इसपर पूज्य अध्यक्षजीका बड़ा ही प्रभावपूर्ण भाषण हुआ, जिसके द्वारा समाजको उक्त सहयोग देनेकी विशेष प्रेरणा की गई। और देहलीके उपस्थित सभी श्रीमानोंकी ओरसे रायबहादुर बा० उल्फतरायजीने स्पष्ट शब्दोंमें आश्वासन दिया कि जब पूज्य वर्णीजी देहली पधारेंगे उस समय हम लोग वीरसेवामन्दिरको अपनी शक्ति से भी अधिक सहयोग देनेके लिये तैयार रहेंगे और मुख्तार सा०की इच्छानुसार वीरसेवामन्दिरके लिये स्थानादिका अपने यहाँ सुप्रबन्धकर देंगे। इसका उपस्थित जनताने हर्षध्वनिके साथ अभिनन्दन किया और बड़ा ही आनन्द व्यक्त किया। उसके बाद विदुषीरत्न ब्र० पं० सुमतिबाईका सारगर्भित भाषण होकर उत्सवकी शेष कार्रवाई रात्रिके लिये स्थगित की गई।

रात्रिमें पं० मुन्नालालजी समगौरया, पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री, मा० शिवरामजी, पं० परमेष्ठीदासजी आदिके प्रकृत विषयपर ओजस्वी व्याख्यान हुए। दूसरे दिन पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, प्रो० पन्नालालजी धर्मालङ्कार, बा० सुकुमालचन्दजी देहली, मुख्तार सा० और पूज्य अध्यक्षजीके सामयिक भाषण हुए। इसके बाद धन्यवादादि सहित विसर्जनपूर्वक उत्सव निर्विघ्न समाप्त हुआ।

उत्सवमें तीन प्रस्ताव भी पास हुए, दो प्रस्ताव महात्मा गाँधी और पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके अवसानपर शोक-विषयक हैं और तीसरा वीरशासन-जयन्तीपर्वको सर्वत्र व्यापकरूपमें मनाये जानेकी प्रेरणा विषयक है।

इसी अवसरपर भा० दि० जैन विद्वत्परिषदकी कार्यकारिणी और पाठ्य-निर्माणसमितिकी भी बैठकें हुईं और जिनमें अनेक बातोंपर विचार-विमर्श हुआ। इन आयोजनोंमें सबसे ज्यादा व्यवस्थादिविषयक कष्ट और परिश्रम पं० चन्द्रमौलिजी शास्त्री, श्री भैयालालजी स्वागतमन्त्री, बा० हीरालालजी स्वागताध्यक्ष और सेठ गणेशीलालजीको उठाना पड़ा है और इसके लिये वे अवश्य समाजके धन्यवादपात्र हैं। मुरारकी जैन-समाज भी धन्यवादकी पात्र है, जिसने अपने श्रद्धापूर्ण हृदयोंसे पूज्यवर्णीसंघका चतुर्मास कराया और उसके निमित्तसे वीरशासन-जयन्ती जैसे महत्वपूर्ण उत्सव तथा विद्वत्परिषदकी कार्यकारिणी की बैठकोंका आयोजन किया।

—दरबारीलाल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीवीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवके अध्यक्ष

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यका

भाषण

महानुभाव! क्षुल्लकजी और ब्रह्मचारीगण, जैन-धर्ममर्मज्ञ विद्वद्वर पण्डितगण, जैनधर्म-इतिहासवेत्ता मुख्तारसाहब, उपस्थित समस्त सज्जनवृन्द एवं महिला समाज,

आज मैं श्रीवीरशासनजयन्ती-महोत्सवका सभापति चुना गया हूँ यह सर्वथा अनुचित है क्योंकि वीर-शासन-जयन्ती उत्सवका भार वही वहन कर सकता है जो ज्ञानवान् होकर वीतराग हो। जो वीतराग नहीं वह साक्षात् मोक्ष-मार्गका साधन नहीं दिखा सकता। जो आंशिक वीतराग हो और पदार्थके प्रदर्शन करनेमें अक्षम हो वह भी उनके शासनको दिखानेमें समर्थ नहीं हो सकता। अतः इस पदके योग्य यहां कौन है, मेरी बुद्धिमें नहीं आता। परन्तु एक बल हमें है और संभव है उससे इस भारका कुछ दिग्दर्शन करानेमें, मैं समर्थ हो सकूँ ऐसी संभावना है। प्रत्यक्ष देखता हूं जो वीरके नामसंस्कारसे संगमरमरकी मूर्तिकी अर्चा होरही है तथा वीरके नामसे राजग्रहका विपुलाचल पर्वत लाखों मनुष्यों द्वारा पूजा जारहा है। वीरप्रभुने वहांपर तपस्या ही तो की थी? वीरप्रभुका जिस स्थान पर निर्वाण हुआ वह क्षेत्र आजतक पूजित हो रहा है। वीर-चरित्र जिस पुस्तकमें लिखा जाता है वह पुस्तक भी उदक-चंदनादि अर्घसे अर्चित होती है। मैंने भी उस वीर-प्रभुको अपने हृदयारविन्दमें स्थापित कर रखा है। अतः मुझसे यदि आजका कार्य निर्वाह होजावे तब इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है? आजके दिन मुझे श्रीमहावीर भगवानके शासनको दिखाना है। जिसके द्वारा हितकी बात दिखाई जावे और अहित का निवारण किया जावे उसीका नाम शासन है। श्री गुणभद्रस्वामीने आत्मानुशासनमें लिखा है:—

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवांछसि सुखमतोप्यहमात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥

हे आत्मन्! तू दुखसे भय करता है और सुखकी आकांक्षा करता है, अतः मैं तुझे जो अभिमत है अर्थात् जो दुःखको हरण करने वाली और सुखको करने वाली शिक्षा है उसीको कहूँगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि शिक्षा वही है जो सुखको देवे और दुःखका विनाश करे। भाषामें कविवर श्रीदौलतरामजीने भी लिखा है—

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त सुख चाहें दुःख तें भयवन्त ।
तातें दुःखहारि सुखकार कहें सीख गुरु करुणा धार ॥

अर्थात् इस दुःखमय संसारमें जिस उपदेशके द्वारा यह आत्मा दुःखसे छूट जावे और निराकुलतारूप सुखको प्राप्त कर लेवे वही उपदेश जीवका हितकर है। श्रीवीरप्रभुने पहले तो आत्मीय प्रवृति द्वारा बिना ही शब्दोच्चारणके वह शिक्षा दी जिसे यदि यह जीव पालन करे तो अनायास अलौकिक सुखका पात्र हो सकता है। श्रीवीरप्रभुने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्य-व्रतको स्वीकार किया था और दार-परिग्रहसे सर्वथा मुक्त रहे थे।

संसार-वृद्धिका मूल-कारण स्त्रीका समागम है। स्त्री-समागम होते ही पाँचों इन्द्रियोंके विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूपको देखकर निरन्तर देखनेकी अभिलाषा रहती है, वह सुन्दर रूपवाली निरन्तर बनी रहे, इसके लिये अनेक प्रकार के उबटन, तैल आदि पदार्थोंके संग्रहमें व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदिसे दुर्गन्धित न होजाय, अतः निरन्तर चन्दन, तैल, इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओंका संग्रह कर उस पुतलीकी सम्हालमें संलग्न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। उसके केश निरन्तर लम्बायमान रहें, अतः उनके अर्थ नाना प्रकारके गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तैलोंका उपयोग करता है। तथा उसके सरल कोमल, मधुर शब्दोंका श्रवण कर अपनेको धन्य मानता है और उसके द्वारा सम्पन्न नाना प्रकारके रसास्वादको लेता हुआ फूला नहीं समाता। कोमलाङ्ग को स्पर्श करके तो आत्मीय ब्रह्मचर्यका और बाह्यमें शरीर-सौन्दर्यका कारण वीर्यका पात होते हुए भी अपनेको धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्री-समागमसे ये मोही पंचेन्द्रियके विषयमें मकड़ीकी तरह जालमें फँस जाते हैं। श्रीवीरप्रभुने उसे दूरसे ही त्यागकर संसारके प्राणियोंको यह दिखला दिया कि यदि इस लोक और परलोकमें सुखी बनना चाहते हो तो इस ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करो। भर्तृहरि महाराजने जो कहा है वह तथ्य ही है:—

मत्तेभ-कुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

यद्यपि इसी व्रतके पालनसे सम्पूर्ण व्रतोंका समावेश इसीमें हो जाता है तथा सर्व प्रकारके पापोंका त्याग भी इसी व्रतके पालनसे हो जाता है। फिर भी लोकमें सर्व प्रकारके मनुष्य हैं, अनेक प्रकारकी रुचि है। रुचिकी विचित्रतासे अन्य अहिंसादि धर्मों (व्रतों) को भी श्रीवीरने स्वयं पालन कर साक्षात् कल्याणका मार्ग दिखा दिया। प्रथम तो यदि आप लोग विचार करेंगे तब इसीमें सर्व व्रत आजाते हैं। विचारो, जब स्त्रीसम्बन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे सुतरां अनुराग घट गया। किसी कविने कहा है:—

'गृहिणी गृहमाहुः' अर्थात् स्त्री ही घर है। घास-फूस, मिट्टी-चूना आदिका बना हुआ गृह—गृह नहीं है। इसके अनुराग घटनेसे शरीरके शृङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते हैं तथा माता-पिता आदिसे स्वयं स्नेह छूट जाता है। कुटुम्ब आदि सबसे विरक्त हो जाता है। द्रव्यादिकी ममता स्वयमेव छूट जाती है, जिसके कारण गृह-बन्धनसे छूटनेमें असमर्थ भी स्वयमेव विरक्त होकर दैगम्बरी-दीक्षाका अवलम्बन कर मोक्ष-मार्गका पथिक बन जाता है। श्रीवीरप्रभुने दारपरिग्रह तो किया ही नहीं उसके रागको बाल्यावस्था ही से त्याग दिया तब अन्य परिग्रह तो कुछ ही वस्तु न थी, दीक्षाका अवलम्बन कर साक्षात् मोक्ष-मार्ग प्राणियोंको दिखा दिया तथा लोकको अहिंसा-तत्वका साक्षात्कार करा दिया—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्,
न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥

संसारमें परिग्रह ही पञ्च पापोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त होता है। जहाँ परिग्रह है वहाँ राग है, और जहाँ राग है वहीं आत्माके आकुलता है तथा जहाँ आकुलता है वहीं दुःख है एवं जहाँ दुःख है वहाँ ही सुखगुणका घात है और सुखगुणके घातका ही नाम हिंसा है। संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड परिग्रह है। आज जो भारतमें बहुसंख्यक मनुष्योंका घात होगया है तथा होरहा है उसका मूल-कारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व हटा देवें तो वह अगणित जीवोंका घात स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रहके पालनेसे हम हिंसा पापसे मुक्त हो सकते हैं और अहिंसक बन सकते हैं। परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा-तत्वको पालन करना असम्भव है। भारतवर्ष में जो यागादिकसे हिंसाका प्रचार होगया था, उसका कारण यही तो है कि हमको इस यागसे स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे। देवता प्रसन्न होगें, यह सब क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रहकी चाह न होती तो निरपराध जन्तुओंको कौन मारता? आज यदि इस परिग्रहमें मनुष्य आसक्त न होते तब ये समाजवाद कम्यूनिस्टवाद क्यों होते? आज यदि परिग्रहके धनी न होते तब ये हड़तालें क्यों होतीं? यदि परिग्रह-पिशाच न होता तब जमींदारी प्रथा, राजसत्ताका विध्वंस करनेका अवसर न आता? यदि यह परिग्रह-पिशाच न होता तब कॉंग्रेस जैसी स्वराज्य दिलानेवाली संस्था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विरोधियों द्वारा निन्दित न होती। और वे स्वयं इनके स्थानमें अधिकारी बननेकी चेष्टा न करते? आज यह परिग्रह-पिशाच न होता तो हम उच्च हैं, आप नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहाँ तक अपना प्रभाव प्राणियोंपर ग़ालिब किये है जो सम्प्रदायवादोंने धर्म तकको निजी मान लिया है। और उस धर्मकी सीमा बाँध दी है। तत्व-दृष्टिसे *धर्म तो आत्माकी परणतिविशेषका नाम है*, उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है? जो धर्म चतुर्गतिके प्राणियोंमें विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्योंमें मानना क्या न्याय है? परिग्रह-पिशाचकी यह महिमा है जो इस कूपका जल तीन वर्णोंके लिये है, इसमें यदि शूद्रोंके घड़े पड़ गये तब अपेय होगया! टट्टीमें होकर नल आजानेसे जल पेय बना रहता है! अस्तु, इस परिग्रह पापसे ही संसारके सर्व पाप होते हैं। श्रीवीर प्रभुने तिल-तुष-मात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा-व्रतकी रक्षा कर प्राणियोंको बता दिया कि यदि कल्याण करनेकी अभिलाषा है तब दैगम्बर-पदको अङ्गीकार करो। यही उपाय संसार-बन्धनसे छूटनेका है। यदि संसारमें सुख-शान्तिका साम्राज्य चाहते हो तब मेरे स्मरणसे सुख-शान्ति न होगी, और न स्वयं तुम सुखी होगे; किन्तु जैसे मैंने कार्य किये हैं वही करो। जैसे मैंने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्य-व्रत पाला वैसे ही तुम भी पालन करो तुम लोगोंको उचित है कि यदि मेरे अन्तरङ्गसे भक्त और अनुरागी हो तो मेरा अनुकरण करो। यदि उस ब्रह्मचर्यव्रतके पालनेमें असमर्थ हो तब बाल्यावस्था व्यतीत होनेपर जैसा गृहस्थधर्ममें इसका विधान है उस रीतिसे इसे पालन करो। अनन्तर जब युवावस्था व्यतीत होजावे तब परिग्रहको त्याग अपरिग्रहीबननेकी चेष्टा करो, इसी कीचड़में मत फँसे रहो। द्रव्यको न्यायपूर्वक अर्जन करो, अन्यायसे मत उपार्जन करो, मर्यादाको त्याग स्वेच्छाचारी मत बनो, दान करते समय विवेकको मत खो दो, मन्दिर बनाओ, पञ्चकल्याणक उत्सव करो, निषेध नहीं, परन्तु जहाँपर इनकी आवश्यकता है।

वीरशासनके प्रचारार्थ प्राचीन साहित्यके उद्धार की महती आवश्यकता है। उस ओर समाजकी दृष्टि नहीं। पूजन तो देव-शास्त्र-गुरु तीनोंकी करते हो परन्तु शास्त्रोंकी रक्षाका कोई उपाय नहीं। सहस्त्रों शास्त्र जीर्ण-शीर्ण होगये और होरहे हैं, इसकी ओर समाजका लक्ष्य नहीं। मेरी समझमें एक पुरानी संस्था (वीर-सेवा-मन्दिर) मुख्तार साहबकी है। परन्तु द्रव्यकी त्रुटिके कारण आज कोई महान् ग्रन्थका प्रकाशन मुख्तार साहब न कर सके। न्यायदीपिका, अनित्यपञ्चाशत् समाधिशतक आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रकाशमें ला सके। समाजको उचित है जो इस संस्थाको अजर-अमर करदे। होना तो असम्भव है क्योंकि हम लोगोंको उसका स्वाद नहीं आया। अगर स्वाद आया होता, तब, एक आदमी इसे पूर्ण कर देता। *कलकत्तामें सुनते हैं इसके उद्धारके लिये चार लाख रुपया हुआ था, परन्तु उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं हुआ।* उस कमेटीके प्रमुख श्री बाबू छोटेलालजीको इस ओर *अवश्य ही ध्यान देना चाहिये और इस पुनीत कार्यको शीघ्र ही प्रारम्भ करना चाहिए।* मेरा तो स्वयं मुख्तार साहबसे यह कहना है जो आपके पास है उसे अपनी अवस्थामें व्यय कर अपने द्वारा सम्पादित लक्षणावली आदि जो ग्रन्थ हैं, प्रकाशित कर जाइये। परलोक बाद क्या आप देखने आवेंगे कि हमारी संस्थामें क्या होरहा है? इस अवस्थासे मुक्ति तो होना नहीं, स्वर्गवासी देव होगे, सो वे इस कालमें आते नहीं। समाजमें गुणग्राही पुरुषोंकी विरलता है। सम्भव है वे इसपर दृष्टिपात करें। महावीर स्वामीका तो यही आदेश है कि प्रभावना करो।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

अथवा

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
निजशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना॥

केवल बैण्ड बाजे बजानेसे प्रभावना नहीं होती। दूसरे, *समाजके सामने पुरातत्त्वकी खोज* कर मनुष्योंके हृदयोंमें धर्मकी प्रभावना जमा देना उत्तम कार्य है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीसरे, प्राचीन संस्कृत विद्याके पारगामी पण्डित बनाकर जनताके समक्ष वास्तविक तत्त्वके स्वरूपको रख देना आवश्यकीय है। यद्यपि समयके अनुकूल कुछ विद्वान् जैन समाजमें गणनीय हैं पर उनके बाद भी यह परिपाटी चली जावे, इसकी महती आवश्यकता है। एक भी ऐसा विद्यालय नहीं जहां १०० छात्र भी संस्कृतका अध्ययन करते हों। जितने विद्वान् हैं वे तो अपने बालकोंको अर्थकरी विद्या पढ़ानेमें लगा देते हैं। जो बालक सामान्य स्थितिके हैं उनके यह धारणा होगई है जो संस्कृत विद्या पढ़नेसे कुछ लौकिक वैभव तो मिलता नहीं। पारलौकिककी आशा की जावे, जब कुछ धर्मार्जन हो, सो जहाँ नोन-तेल-लकड़ीकी चिन्ता से मुक्ति नहीं वहाँ धर्मार्जन कैसा! अतः वे बालक भी उदास होगये। रहे धनाढ्योंके बालक, सो उन लोगोंके यह विचार हैं जो हमको पण्डित थोड़े ही बनाना है जो दर-दर जावें। हमें तो धनकी कृपा है तब अनायास बीसों पण्डित हमारे यहाँ आते ही रहेंगे। अतः मामूली विद्या पढ़ाकर बालकोंको दूकानदारीके धन्धेमें लगा देते हैं। आप ही बतावें, ऐसी अवस्थामें वीरशासनका प्रचार कैसे हो ? रहा त्यागी-वर्ग, सो प्रथम तो जैनियोंमें त्यागी ही नहीं, जो हैं उन के पठन-पाठनकी कोई व्यवस्था नहीं। अथवा, समाजने उनके लिये एक या दो आश्रम जो खोले भी हैं किन्तु वहाँ यथेष्ट पठन-पाठनकी व्यवस्था नहीं। समाज रुपया भी देना चाहती है तब परिग्रह-पिशाच की ऐसी कृपा होती है जो त्यागी महाराज भी उसीके बढ़ानेमें अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। क्या कहूँ मैं श्री वीरप्रभुको अन्तिम नमस्कार करके यह प्रार्थना करता हूँ जो हे नाथ! मैं आपके चरणोंका अन्तरङ्गसे अनुरागी हूँ, मेरी सामर्थ्य नहीं थी जो उत्कृष्ट श्रावकका आचार पाल सकूँ; परन्तु आपके शासनके मोहवश इस क्षुल्लक पदको अङ्गीकार किया है। इसी वर्ष तीव्र गरमी पड़ी, दो मास तृषा परीषहका अनुभव होगया और दैगम्बर धर्ममें दृढ श्रद्धा होगई। मेरे मनमें यह आता है कि जो यथागम इसे पालन करूँ, और इस संसार यातनासे बचूँ। आपके आगमसे मेरी तो दृढतम श्रद्धा होगई है जो आत्मा ही आत्माका गुरु है। जिस समय इन रागादि शत्रुओंपर विजय कर लूँगा उस समय स्वयं ही आप जैसा बन जाऊँगा।

हे वीर! आपने यही तो मार्ग बताया, परन्तु हे भगवन्! हम लोगोंने उस मार्गको नहीं अपनाया। आपकी मूर्ति पूजी, निर्वाण-भूमि पूजी, किन्तु आपके बताये मार्गपर न चले। आपने तो परिग्रह त्याग बताया, किन्तु हम लोग आपके नामपर लाखों रुपया एकत्रित कर मूर्छाके पात्र बने हैं। मान लो रुपया भी एकत्रित करें, तो उसी वीरप्रभुके शासन प्रचारमें लगा दें। परन्तु उस ओर हमारा लक्ष्य नहीं। हे प्रभो! अब बहुत कष्टमय काल है। एक बार फिर प्राचीन कालकी लहर आजाय, जो हम लोग सुमार्ग पर आवें और आपके शासनका प्रचार करें। अन्तमें, क्रान्तिके इस युगमें वीरशासनके प्रचारके लिये समाजके विद्वानों और श्रीमानोंमें सङ्गठित कार्य करनेकी शक्ति जागृत हो, इसकी भावना करते हुए हम अपने भाषणको समाप्त करते हैं।

वीरशासनकी जय।

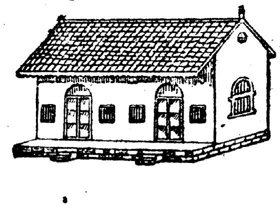

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

ये मनुष्य हैं या सांप ?

सुनते हैं डायन भी अपने-परायेका भेद जानती है। वह कितनी ही भूखी क्यों न हो; फिर भी अपने बच्चोंका भक्षण नहीं करती। सिंह-चीते, घड़ियाल-मगरमच्छ, बाज-गरुड़ आदि क्रूर हिंसक जानवर भी सजातीयोंको नहीं खाते। कहते हैं साँपन एकसौ एक अण्डे प्रसव करती है और प्रसव करते ही उनमेंसे अधिकांश खा लेती है या नष्ट कर देती है। हमारा अपना विश्वास है कि वह क्षुधा-शान्त करनेको सन्तान-भक्षण नहीं करती; अपितु लोक-रक्षाकी भावनासे प्रेरित होकर ही विषैली सन्तानके भक्षणको बाध्य होती है।

क्रूर-से-क्रूर पशु-पक्षी भी अपनी सीमाके अन्दर ही केवल क्षुधा-पूर्तिके लिये विजातियोंका शिकार करते हैं। किन्तु, हजरते इन्सानसे कुछ भी बईद नहीं। ये जल-थल-नभ सर्वत्र विश्व-संहारको पहुँचते हैं। आवश्यक-अनावश्यक संसारको कष्ट देते हैं। शत्रुका तो संहार करते ही हैं; मित्रों और परोपकारियों को भी नहीं छोड़ते। जो काम शैतान करते हुए लजाये, उसे ये मुस्कराते हुए कर डालते हैं।

संसारमें शायद मछली और मनुष्य ही केवल दो ऐसे विचित्र प्राणी हैं, जो सजातीयोंको भी नहीं छोड़ते। सम्भवतया जैनशास्त्रोंमें इसीलिये इन दोनोंके सातवें नरक तकके बन्ध होनेका उल्लेख मिलता है जबकि अन्य क्रूर-से-क्रूर पशु-पक्षियोंके प्रायः छठे नरक तक का ही बन्ध होता है। ईमानकी बात तो यह है कि मनुष्यकी करतूतोंकी तुलना किसी भी जानवरसे नहीं की जा सकती। यह अपनी यकताँ मिसाल है।

मनुष्य अपने सजातीय यानी मनुष्यका संहार करनेका आदी है। फिर भी भारतके हिन्दुओंके अतिरिक्त प्रायः सभी मनुष्योंने देश, धर्म, समाजकी रेखाएँ खींच ली हैं। और इन रेखाओंके अन्दर रहने वाले एक दूसरेका संहार करना तो दूर अनिष्ट करना भी नही सोचते। परन्तु भारतके हिन्दु और वह भी निरामिष भोजी, उच्चवर्णोत्पन्न उक्त मर्यादामें नहीं बन्धे हैं। मुक्तिके इच्छुक इस बन्धनसे मुक्त हैं। न इनसे अपने देशवासी बच पाते हैं, न सहधर्मी और न सजातीय।

चूँकि यह निरामिष भोजी हैं; रक्तमात्र देखनेसे इनका हृदय घबराने लगता है। इसलिये इन्होंने अपने कुटुम्बियों, इष्ट-मित्रों, सजातीय और सहधर्मी बन्धु-बान्धवोंके संहारका उपाय भी अहिंसक निकाल रक्खा है—

'होजाएँ खून लाखों लेकिन लहू न निकले'।

क्या किसी देशमें, समाजमें अपनी बहन-बेटियों-को, बन्धु-बान्धवोंको शत्रुओंके हाथोंमें सौंपते हुए किसीने देखा है ? न देखा, सुना हो तो भारतमें आकर यह पैशाचिक लीला अपने आँखोंके सामने होती देख लो। ये लोग गायका रस्सा तो क़साईसे छीनते हैं, पर, बहन-बेटियोंका हाथ स्वयं उनके हाथों में पकड़ा देते हैं। कुत्तों—बिल्लियोंको तो अपने साथ सुलाते और खिलाते हैं, पर अपने सजातियों-सहधर्मियोंसे घृणा करते हैं। साँपोंको दूध पिलाने और चिंउटियोंको शक्कर खिलानेके लिये तो ये लोग जङ्गल-जङ्गल घूमते हैं, पर अपहृत महिलाओंके उद्धारके बजाय उनकी छायासे भी दूर भागते हैं। चिड़ीमारके हाथोंसे तोते-चिड़ियाओंका तो रुपया देकर उद्धार करते हैं, पर आततायियोंके चंगुलमें फँसी, रोती-बिलखती नारियोंको मुक्त करना पाप समझते हैं।

यूँ तो आये दिन इस तरहके काण्ड होते ही रहते हैं, परन्तु सीनेपर हाथ रखकर एक घटना और पढ़ लीजियेः—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'साम्प्रदायिक उपद्रवोंके परिणामस्वरूप अन्यत्र की तरह देहरादूनमें भी हिन्दू-मुसलमानोंमें संघर्ष हुआ। उसी अवसरपर चार मुसलमान हाथोंमें तलवार लिये एक ब्राह्मणके घर पहुँचे। और ब्राह्मणसे जाकर बोले कि तुम सकुटुम्ब मुसलमान हो जाओ और अपनी जवान लड़कीको हममेंसे एकके साथ शादी कर दो, वर्ना हम सबको जानसे मार डालेंगे।

ब्राह्मण यह दृश्य देखकर घबराया और लड़की देने तथा धर्म-परिवर्तन करनेको प्रस्तुत हो होगया। किन्तु जब वह अपनी युक्ती कन्याका हाथ उनमेंसे एक मुसलमानके हाथमें देने लगा तो लड़कीने फुर्तीसे उस मुसलमानसे तलवार छीनकर पलक मारते ही दोको खुदागञ्ज भेज दिया; बाकी दो भाग गये। वीर लड़कीके साहसके कारण ब्राह्मण और उसका कुटुम्ब तो धर्म-परिवर्तनसे बच गये, लेकिन उस वीराङ्गनाको खूनके अपराधमें पुलिस पकड़ कर लेगई। भाग्यसे देहरादूनका कलक्टर सहृदय और गुणज्ञ अंग्रेज था। उसे जब वास्तविक घटनाका ज्ञान हुआ तो उसने वह मुक़दमा किसी तरह अपनी अदालतमें ले लिया और दो-चार पेशियोंके बाद लड़कीको निरपराध घोषित करके उसको लिवा जानेके लिये उस ब्राह्मणके पास इत्तला भेजी तो ब्राह्मणने कहलवा भेजा कि चार-पाँच रोज़में बिरादरीसे पूछ कर बतला सकूँगा कि लड़कीको घरपर वापिस ला सकता हूं या नहीं। चार-पाँच रोज़के बाद ब्राह्मणने लिख दिया कि—'लड़कीको घरपर वापिस लानेकी बिरादरी इजाजत नहीं देती, इसलिये वह मजबूर है।' इस उत्तरको पढ़कर कलक्टर बहुत हैरान हुआ और ब्राह्मणकी इस निष्ठुरताका कारण उसकी समझमें नहीं आया। लाचार उसने वहाँके आर्यसमाजियोंको वह लड़की सौंपते हुए कहा—'यदि यह लड़की इङ्गलिस्तानमें उत्पन्न होकर ऐसा वीरतापूर्ण कार्य करती तो अंग्रेज इसकी मूर्ति बनवाकर स्मृतिस्वरूप किसी वाटिकामें स्थापित करते और जो स्त्री-पुरुष वहाँसे पास होते उसको आदर देते। किन्तु यह हिन्दुस्तान है, यहाँका हिन्दु पिता अपनी लड़कीको शाबासी देनेके बजाय उसे अपने साथ रखना भी पाप समझता है!'

मालूम होता है कलक्टर साहबको हिन्दुस्तान आये थोड़े ही दिन हुए होंगे। अन्यथा देहरादूनके उस ब्राह्मणकी इस करतूतसे वे व्यथित नहीं हुए होते! उन्हें क्या मालूम कि यहाँ ऐसे ही सन्तान-घातक और समाज-भक्षियोंका प्राबल्य है। ऐसे ही पापियोंके कारण भारतके १४-१५ करोड़ हिन्दू ईसाई और मुसलमान बने हैं। फिर भी इनकी यह लिप्सा अभी शान्त नहीं हुई है और दिन-रात अपने समाज और वंशका घात करनेमें लगे हुए हैं।

यशोदाने मुस्लिम प्याऊसे पानी पी लिया, धनीराम सिंघाईके तांगेके नीचे चूहा मर गया, कनौजियोंकी पग़तपर यवनोंकी परछांई पड़ गई। छुट्टू पंडेका तिलक रमजानी भटियारेने चाट लिया, गुड़गांवेंके गूजरोंने मेवोंके हाथ गाय बेच दी, श्रीमालीब्राह्मण मस्जिदके कुए पर स्नान कर आये। अतः ये सब विधर्मी होगये हैं। हिन्दुजातिसे वहिष्कृत, हुक्का-पानी, रोटी-बेटी व्यवहार इनके साथ बन्द! और तारीफ़ यह कि वे स्वयं भी अपनेको पतित समझकर विधर्मियोंमें आंसू बहाते हुए मिल जाते हैं। न तो ये सोने-चाँदीसे मढ़े भगवान् ही उनकी रक्षा कर पाते हैं न पतित-पावनी गङ्गा-यमुना, न भगवानका गन्धोदक। सब निकम्मे होजाते हैं और वे गायकी तरह डकराते हुए अपनोंसे बिछुड़नेको बाध्य होते हैं।

इन पोंगापन्थियोंके कारण भारतको अनेक दुर्दिन देखने पड़े हैं। भारतपर जब विदेशियोंके आक्रमण होने लगे तो ये तिलक लगाये, हाथमें माला लिये निश्चेष्ट गो-मन्दिरोंका विध्वंस देखते रहे। सीता-हरणकी कथा पढ़-पढ़कर रोते रहे, परन्तु आँखोंके सामने हज़ारों सीताओंका अपहरण देखते हुए भी इनका रोम न हिला। काश्मीरके ब्राह्मण बलात् मुसलमान बना लिये गये तो काश्मीरमहाराज काशी आकर गिड़गिड़ाये और इन धर्मके ठेकेदारोंसे उन्हें वापिस धर्ममें ले लेनेकी व्यवस्था चाही, पर ये टस-से-मस न हुए। मूर्तिको पतित-पावन और गणिका तथा सदना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कसाईके उद्धारकी कथा कहते-सुनते स्वयं पत्थर बन गये।

वुत बनके वोह सुना किये बेदादका गिला।
सूझा न कुछ जवाब तो पत्थरके होगये॥

करोड़ों राजपूत—मेव, राँघड़, मलकाने मुसलमान बन गये, पर इन्होंने उनके रोने और घिघयानेपर भी उन्हें गले नहीं लगाया। लाखों महिलायें गत वर्ष अपहृत होगईं परन्तु ये वज्रहृदय न तो उनकी रक्षा ही करनेको उद्यत हुए और न अब उन्हें वापिस लेने को ही तैयार हैं।

जिन पापियोंके कारण १०–१५ करोड़ हिन्दू विधर्मी हुए उनके प्रायश्चित्तका असली उपाय यही है कि उनकी सन्तानको काश्मीर और हैदराबादके मोर्चों पर हिन्दु जातिकी रक्षार्थ भेज देना चाहिये। क्योंकि आक्रामक अधिकांश वही लोग हैं जो इनके कारण विधर्मी बने हैं। और जो अब भी इस तरहके अपवित्र मनुष्य हैं, उन्हें भङ्गियोंका कार्य सौंप देना चाहिए और भङ्गियोंको कोई दूसरा कार्य—ताकि उनके मिलानेसे भङ्गी अपना अपमान न समझें। समाजके ऐसे कोढ़ियोंको, जिनसे समाज क्षीण होता हो, चाण्डालोंकी संज्ञा देकर उनसे चाण्डालों जैसा व्यवहार करना चाहिए।

वाहरे पोंगापन्थियो! सकुटुम्ब धर्म-परिवर्तनको तैयार! लुच्चे-लफंगोंको जवान लड़की देना मन्जूर!! न इसमें बिरादरीकी नाक कटती और न जातीय-मर्यादा नष्ट होती। परन्तु आततताइयोंको पाठ पढ़ाने वाली सीतासे भी बढ़कर सुशीला लड़कीको अपनानेमें बिरादरीकी इज्जत गोबर होती!

बेशक ऐसी हिजड़ी समाज उसे कैसे अपनाती और कैसे अपना कलुषित मुँह दिखलाती:—

परदेकी और कुछ वजह अहले जहाँ नहीं।
दुनियाको मुँह दिखानेके क़ाबिल नहीं रहे॥

आत्म-घातक नीति

'एक ही रास्ता' शीर्षकमें महात्मा गाँधीजीने लिखा था—"मेरी समझमें यह नहीं आता कि कैसे किसी आदमीका दीन-धर्म जबरन बदला जा सकता है। या कैसे किसी एक भी औरतको जबर्दस्ती भगाया या बेइज्जत किया जा सकता है? जब तक हम यह मानते रहेंगे कि हमारी ऐसी बेइज्जती करते ही रहेंगे[1]।"

वास्तवमें हिन्दुओंकी इस आत्म-घातक बुनियादी कमजोरीको जड़मूलसे उखाड़नेके लिये बहुत बड़े आन्दोलनकी आवश्यकता है। मनुष्य जब आत्म-ग्लानियोंसे भर उठता है और स्वयं अपनी नजरोंसे पतित होजाता है, तब उसका उद्धार त्रिलोकीनाथ भी नहीं कर सकते।

गिर जाते हैं हम ख़ुद अपनी नज़रोंसे सितम यह है।
बदल जाते तो कुछ रहते, मिटे जाते हैं ग़म यह है॥

—अकबर

जो धर्म पतितोंको उबारने, विधर्मियोंको अपना बनानेमें सञ्जीवनी शक्ति था। वही आज चौका-चूल्हे, तिलक-जनेऊमें फँसकर समाज-भक्षक बन रहा है।

हिन्दु जातिकी यह कितनी आत्म-घातक नीति रही है कि झूठ-मूठ दोष लगा देनेपर, या बलात् कोई अधर्म कार्य कराये जानेपर वह स्वयं अपनेको धर्म-भ्रष्ट समझ लेती है! और इस अपमानका बदला न लेकर स्वयं विधर्मियोंमें सम्मिलित हो जाती।

और नारी-सतीत्व जो उसके अमरत्वके लिये अमृत था, वही अब विषसे भी अधिक घातक सिद्ध हो रहा है। जब स्त्री-पुरुष समान हैं तब बलात्कारसे केवल स्त्रीका ही धर्मभ्रष्ट क्यों समझा जाता है? पुरुष का धर्मभ्रष्ट क्यों नहीं होता? नारी ही क्यों तिरस्कृत और घृणित होकर रह जाती है? वह क्यों भोग्य बनी हुई है?

नारीकी इसी दुर्बलतासे कामुक पुरुष लाभ उठाते हैं। नारी इस कृत्यको इतना बुरा समझती है कि पुरुषके बलात्कार करनेपर भी उसे गोपन रखनेकी स्वयं मिन्नतें करती है। और किसीपर प्रकट न कर दे इस आशङ्कासे उसके इशारोंपर नाचती है। उचित-अनुचित सभी बातें मानती है। स्वयं अपनेको भ्रष्ट समझती है। और भ्रष्ट करने वाले नर-पशुसे बदला न लेकर उसके हाथोंमें खेलती है।

१—हरिजन सेवक १ दि० १९४६ पृ० ४१२।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः अब इस प्रबल आन्दोलनकी आवश्यकता है कि नारीसे बलात्कार करनेपर भी उसका सतीत्व अखण्ड रहता है। कोई पापी कुछ ही खिलादे और और कुछ भी करले, पर धमभ्रष्ट नहीं होता। क्योंकि धर्म आत्माकी तरह अजर-अमर है। न इसे कोई नष्ट कर सकता है, न छीन सकता है, न अपवित्र कर सकता है। जो धर्म आत्माको परमात्मा बनानेकी अमोघ शक्ति रखता है, वह किसीसे भी छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता।

डालमियानगर (विहार) —*गोयलीय*

१६ जौलाई १६४८

श्रीशान्तिनिकेतनमें जैनशिक्षापीठकी आवश्यकता

आज दुनियाके सामने जो जलती हुई समस्याएँ हैं उनमें शैक्षणिक समस्या बहुत ही अधिक महत्त्व रखती है; क्योंकि किसी भी राष्ट्रकी सांस्कृतिक स्थितिकी रक्षा शिक्षाकी मजबूत नींवपर ही अवलम्बित है। मानवके आधिभौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके मूल इसीमें सन्निविष्ट हैं। बात बिल्कुल दीपकवत् स्पष्ट है। अतः शिक्षा-विषयक अधिक लिखना या विचार करना उपयुक्त नहीं; परन्तु यदि सचमुचमें हमें यह हमारी कमजोरी दीखती है तो उसे क्रियात्मक उपायोंसे अविलम्ब दूर करना चाहिये। कथन और मननका जमाना गया, जमाना है ठोस काम करनेका, वह भी मूकभावसे। वर्तमान जैनसमाजकी शिक्षणप्रणालिकापर यदि दृष्टि कर उसपर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे तो बड़ी भारी निराशा होगी। जिस पद्धतिके अनुसार जैन बालक और प्रौढोंकी शिक्षा होनी चाहिये उसका हमारे सर्वथा अभाव भले ही न हो पर वह दिशा अवश्य ही उपेक्षित है। इसके कटुफल हमारी सन्तानको चखना पड़ेंगे। आजका सांस्कृतिक वायुमण्डल जैनोंके अनुकूल होनेके बावजूद भी समाज इसपर समुचित ध्यान नहीं दे रहा है। कहनेको तो शिक्षालय-गुरुकुलोंकी हमारे यहाँ कोई कमी नहीं है परन्तु फिर भी जो सांस्कृतिक गौरव-गरिमाको बढ़ाने वाला अनुष्ठान होना चाहिये सो नहीं हो पाता। जबतक प्राचीन कीर्तिकलाकी जड़ें कुछ अंशोंमें हरी न होजायें तबतक कोई भी व्यक्ति हमारे समाजको शिक्षित कैसे मान सकता है? जैन विद्यालयोंमें जो बालकोंको शिक्षा दी जाती है वह उनके नैतिक विकासके लिये तो पर्याप्त है ही परन्तु यदि समाज अजैन शिक्षा-विषयक संस्थाओंमें जैन पीठ स्थापितकर सांस्कृतिक अनुशीलनका काम करे-करवावे तो बौद्धिक जीवन यापन करनेवाले समाजका बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। और मैं तो मानता हूँ कि जैन संस्कृतिकी सच्ची सेवा किसी न किसी रूपमें हो सकती है। मैं समाजका ध्यान कविवर श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रस्थापित शान्तिनिकेतन आश्रमकी ओर खींचना चाहता हूँ, जहाँपर भारतीय संस्कृति और सभ्यताके सभी अङ्गोंका समुचित अध्ययन बड़े मनोयोग-पूर्वक कराया जाता है। शायद ही भारतका कोई शिक्षित व्यक्ति ऐसा होगा, जो वहाँकी शिक्षण-प्रणालिकासे अपरिचित हो।

कलकत्तासे पटनाकी ओर विहार करते हुए मुझे कुछ यहां पर रहनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था, वहाँ पर मैंने चीनाभवन, हिन्दीभवन, प्राच्यविद्याभवन, कलाभवन आदि पृथक् पृथक् विद्याकी शाखाओंकी सुसाधना करनेवाले शिक्षा मन्दिरोंका अवलोकन किया एवं अध्यापकोंसे भी एतद्विषयक विचार विनिमय किया। चीनी, फारसी, अरबी, पाली, हिन्दी, संस्कृत, बंगला आदि भारतकी सभी प्रान्तीय भाषाओं और विविध साहित्योंका गंभीर अध्ययन तथा मनन यहाँपर होता है। यही कारण है कि विदेशोंमें इस आश्रमका जो स्थान है वह किसीको प्राप्त नहीं हुआ। विदेशी गवेषक और भारतीय संस्कृतिके प्रेमी विद्वान् यहाँपर आते ही रहते हैं। वे तो यही समझते हैं कि भारतीय सभी धर्मो और साहित्योंका प्रधान केन्द्र शांतिनिकेतन है और बात भी कुछ अंशोंमें सच है। परन्तु यहाँपर दो बातोंकी मैंने जो कमी देखी वह मुझे उसी समय बहुत ही अखरी—एक तो इतनी विशाल लायब्रेरीमें उच्च श्रेणिके जैन-साहित्यका सर्वथा अभाव, जो अनु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शीलनात्मक कार्योंमें सहायता करना हो वहाँके विद्वानोंमें पं० प्रवर हजारीप्रसादजी द्विवेदी, आचार्य क्षितिमोहनसेन, जैनसाहित्यके प्रेमी और अन्वेषक हैं। श्रीयुत् रामसिंहजी तोमर तो प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यके गंभीर अभ्यासी हैं। आपने अपभ्रंशभाषा और साहित्यका विवेचनात्मक इतिहास भी बड़े परिश्रमपूर्वक तैयार किया है जो शीघ्र ही हिन्दीभवनकी ओरसे प्रकाशित होगा। आगे भी उपर्युक्त विद्वान जैन संस्कृतिपर अध्ययन करनेकी सुरुचि रखते हैं; परन्तु आवश्यक साधनोंके अभावमें उनका कार्य बढ़ नहीं सकता, जब कभी कुछ जैनसाहित्य औरसंस्कृतिविषयक ग्रन्थोंकी आवश्यकता पड़जाती है तो उन्हें वैयक्तिक रूपसे कहींसे प्राप्त कर काम चलाना पड़ता है। जैन समाजके लिये यह अत्यन्त खेदका विषय होना चाहिये। स्वतंत्र अन्वेषण करना तो रहा दूर, पर जो एतद्विषयक कार्योंमें अपना बहुमूल्य समय दे रहे हैं उनको आवश्यक साहित्यिक साधनों की भी पूर्ति न करना और सांस्कृतिक प्रचारकी बड़ी बड़ी बातें करना इसका क्या अर्थ हो सकता है? खुशीकी बात है कि कलकत्ता-निवासी प्रसन्नचन्द बोथराने उपाध्याय सुखसागरजी महाराजके सदुपदेशसे ५०० रुपयोंका जैनसाहित्य यहाँके लिये मँगवाना तै किया है। पर इससे होगा क्या? सम्पूर्ण जैनसाहित्यिक संस्थाओंको—जो प्रचार कर रही हैं—चाहिये कि प्रकाशित ग्रन्थोंकी एक-एक प्रति तो अवश्य ही यहाँ भिजवावें।

दूसरी अखरनेकी बात है वहाँपर जैन विद्यापीठका न होना, जब अधिक प्रसिद्ध धर्मों, साहित्योंकी अध्ययन-प्रवृत्तियाँ यहाँ चलें और जैन शिक्षाकी कोई भी समुचित व्यवस्था न हो, यह भी आश्चर्यका ही विषय है। १५ वर्ष पूर्व बाबू बहादुरसिंह सिंघीके प्रयाससे 'सिंघीविद्यापीठ' संस्थापित हुई थी, जिसके मुख्य अध्यापक पुरातत्त्वाचार्य जिनविजयजी थे परन्तु उनका जबसे वहाँसे प्रयाण हुआ तभीसे संस्था भी चली गई। अब जैनोंकी कोई खास व्यवस्था वहाँपर नहीं है। जबकि वहाँके कार्यकर्ता चाहते अवश्य हैं। अतः जैनसमाजके श्रीमन्त व्यक्तियोंको चाहिये कि प्राकृतभाषा और जैनसाहित्यादिकी शिक्षाके लिये या तो जैन संस्कृतिशिक्षापीठ जैसी कोई स्वतन्त्र संस्था या ऐसी जैनचेयर वहाँपर अवश्य ही स्थापित कर देवें जिसपर एक ऐसे विद्वान्की नियुक्ति की जाये जो जैन दर्शन, धर्म, साहित्यादि सभी विषयोंका विद्वान् और तुलनात्मक अभ्यास करनेमें रुचि रखता हो, साम्प्रदायिक व्यामोहसे दूर हो। यदि यह व्यवस्था जैनसमाज कर दें तो रहने-करनेकी सुविधा वे देनेको तैयार हैं। अधिक खर्च भी नहीं है केवल प्रतिवर्ष ५००० हजारका खर्च होगा, परन्तु वहाँके सांस्कृतिक वायुमण्डलमें जो तुलनात्मक अध्ययन जैन-अजैन व्यक्ति करेंगे वे आगे चलकर हमारी समाजके लियें बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होंगे। मैं तो चाहूँगा कि जैनी लोग इस बातको अतिशीघ्र विचार कर "जैनशिक्षापीठ" स्थापित कर दें। जहाँ जैन संस्कृतिके विविध अङ्गोंका तलस्पर्शी अध्ययन, मनन और अन्वेषण हो।

पटना सिटी, ता० २३-७-४८ —*मुनिकान्तिसागर*

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको निम्न सहायताकी प्राप्ति हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

९००) बाबू नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता (तैयार ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ स्वीकृत दस हजारकी सहायताके मध्ये)।

१००) निर्मलकुमारजी सुपुत्र उक्त बाबू नन्दलालजी कलकत्ता।

१००) बाबू शान्तिनाथजी सुपुत्र उक्त बाबू नन्दलालजी कलकत्ता।

१०) श्रीदिगम्बर जैनसमाज बाराबङ्की, मार्फत ला० कन्हैयालजी जैन बाराबङ्की। —*अधिष्ठाता*

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाकिस्तानी पत्र

[पं० उग्रसेन गोस्वामी बी० ए०, एल-एल० बी० रावलपिंडी ज़िलेके अन्तर्गत सैय्यद कसरा गाँवके रहने वाले हैं। विभाजन होनेसे पूर्व कई लाखके आदमी थे। मकान-बगीचा था, सैकड़ों बीघे ज़मीन थी। गाँवमें अपनी भद्रता और वंश-प्रतिष्ठाके कारण आदर-सम्मानकी दृष्टिसे देखे जाते थे। आजकल डालमियानगरमें रहते हैं और मेरे पास उठते-बैठते हैं। इनके बाल्य-सखा कसरा साहबके अक्सर पत्र पाकिस्तानसे आते रहते है। एक पत्र उनमेंसे नीचे दिया जा रहा है। कसरा साहब उर्दूके ख्यातिप्राप्त शायर और लेखक हैं। बड़े नेक सहृदय मुसलमान हैं। डालमियानगरमें भारत-विभाजनसे पूर्व एक बार तशरीफ़ लाये थे; तब उनकी पत्नीका देहान्त हुए ४ रोज़ हुए थे। फिर भी मेरे यहाँ बच्चे की वर्षगाँठमें सम्मिलित हुए : मुबारकबादी-ग़ज़ल पढ़ी। रातके १२–१ बजे तक शेरोशायरीका दौर चला, परन्तु यह आभास तक न हो सका कि आपपर पत्नी-वियोगका पहाड़ टूट पड़ा है। उनके जानेके बाद ही उक्त घटनाका पता चला। ऐसा वज्र-हृदय मनुष्य भी पञ्जाबका रक्त-काण्ड देखकर रो उठा।

—गोयलीय]

मुहब्बिये दिलनवाज़ जनाब गोस्वामी साहब,

यह ख़त क्यों भेज रहा हूँ, कुछ न पूछिये। मैंने सैयदके हालात सुने हैं, अभी गया नहीं। लेकिन जो कुछ सुना है, वह इतना है कि मैं और आप अपने हमवतनोंकी रज़ालत, मज़हबी दीवानगी और दरिन्दगीकी वजहसे कभी किसी मौज्ज़िज़ शख़्शके सामने शर्मिन्दगीसे सर नहीं उठा सकेंगे। एक दीवानगीका सैलाब था, जो आया और रास्तेमें जो कुछ भी मिला उसे बहाकर ले गया। गाँवके एक-एक मकानको जलाया गया। स्कूलको ख़ाकिस्तर कर दिया। यह नहीं सोचा कि आइन्दा बच्चों की तालीमका क्या होगा ? चीज़ मिटाई तो आसानीसे जा सकती है, लेकिन बनाना मुश्किल होता है। फिर इस क़िस्मके अदारे जिसमें हर क़ौम और हर मज़हबके बच्चे अपने मज़ाक और क़ाबलियतके मुताबिक़ फ़ायदा उठा सकते हैं। इनको मिटाना एक ऐसा गुनाह है जिसको कोई माफ़ नहीं कर सकता।

रावलपिंडी, जेहलम, कैमलपुर या जैसे अज़ला जहाँ अहले हनूद और सिक्ख भाइयोंकी तादाद कम है। आह ! इस अक़लियतको किस तरह बरबाद किया गया। ऐसा ज़ुल्म तो किसी बड़े-से-बड़े ज़ालिम बादशाहने भी मख़लूके खुदापर नहीं किया। चंगेज़ और हलाकू फ़िसाने बनकर रह गये। इस तरक़्क़ीके ज़मानेमें यह बरबरैयत ? या अल्लाह ! खुदाकी पनाह, दिल नहीं चाहता कि ऐसे मुल्कमें रहें। यह मुल्क दरिन्दोंका मुल्क है। इन्सानियतकी क़ीमत यहाँ कुछ भी नहीं। जज़्बये शराफ़त नापैद और खिज़फ़े रज़ालत अनगिनत। अब कैसा सलाम और कैसी दुआ ? मिलें भी तो कैसे मिलें ? वे सिल्सिले ख़त्म हो गये। वे दिन जाते रहे। इन्सानियत बदल गई। मेरे भाई, मैं आपसे निहायत शर्मिन्दा हूँ कि मेरी क़ौमने दरिन्दगीका वह मज़ाहिरा किया जिसके लिये मेरा सर हमेशा नीचा रहेगा।

—ग़ुलामहुसैन कसरा मिनहास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके प्रकाशन

१. **महाबन्ध**—(महधवल सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग। हिन्दी टीका सहित मूल्य १२)।

२. **करलक्खण**—(सामुद्रिक-शास्त्र) हिन्दी अनुवाद सहित। हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ। सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लचन्द्र मोदी एम० ए०, अमरावती। मूल्य १)।

३. **मदनपराजय**— कवि नागदेव विरचित (मूल संस्कृत) भाषानुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित। जिनदेवके कामके पराजयका सरस रूपक। सम्पादक और अनुवादक-पं० राजकुमारजी सा०। मू० ८)

४. **जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करने वाली सुन्दर रचना। हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन रिलीजनके एफ० ए० के पाठ्यक्रममें निर्धारित। मुखपृष्ठपर महावीरस्वामीका तिरङ्गा चित्र। मूल्य ४।-)

५. **हिन्दी जैन-साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**—हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास तथा परिचय। मूल्य २॥)।

६. **आधुनिक जैन-कवि**—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय और सुन्दर रचनाएँ। मूल्य ३॥)।

७. **मुक्ति-दूत**—अञ्जना-पवनञ्जयका पुण्यचरित्र (पौराणिक रौमाँस) मू० ४॥)

८. **दो हजार वर्षकी पुरानी कहानियां**—(६४ जैन कहानियाँ) व्याख्यान तथा प्रवचनोंमें उदाहरण देने योग्य। मूल्य ३)।

९. **पथचिह्न**—(हिन्दी-साहित्यकी अनुपम पुस्तक) स्मृति रेखाएँ और निबन्ध। मूल्य २)।

१०. **पाश्चात्यतर्कशास्त्र**—(पहला भाग) एफ० ए० के लॉजिकके पाठ्यक्रमकी पुस्तक। लेखक—भिक्षु जगदीशजी काश्यप, एफ० ए०, पालि—अध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी। पृष्ठ ३८४। मूल्य ४॥)।

११. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न**—मूल्य २)।

१२. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थ-सूची**—(हिन्दी) मूडबिद्रीके जैनमठ, जैन-भवन, सिद्धान्तवसदि तथा अन्य ग्रन्थ-भण्डार कारकल और अलिपूरके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंके सविवरण परिचय। प्रत्येक मन्दिरमें तथा शास्त्र-भण्डारमें विराजमान करने योग्य। मूल्य १०)।

वीरसेवामन्दिरके सब प्रकाशन भी यहाँपर मिलते हैं.

प्रचारार्थ पुस्तक मँगाने वालोंको विशेष सुविधाएँ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस।

Regd. No. A-731

वीरसेवामन्दिर सरसावाके प्रकाशन

१ अनित्य-भावना—

आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदय-ग्राही महत्वकी कृति, साहित्य-तपस्वी पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य ।)

२ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—

सरल-संक्षिप्त नया सूत्र-ग्रन्थ, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी सुबोध हिन्दी-व्याख्या-सहित। मूल्य ।)

३ न्याय-दीपिका—

(महत्वका नया संस्करण)—अभिनव धर्मभूषण-यति रचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना, न्याचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४०० पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य ५)। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ शेष रही हैं। विद्वानों और छात्रोंने इस संस्करणको खूब पसन्द किया है। शीघ्रता करें। फिर न मिलने पर पछताना पड़ेगा।

४ सत्साधु-स्मरणमंगलपाठ—

अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट संकलन, संकलयिता पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार, भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्त के २१ महान् जैनाचार्योंके प्रभावक गुणस्मरणों से युक्त। मूल्य ॥)

५ अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड—

पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थों के रचयिता पं० राजमल्ल-विरचित अपूर्व आध्यात्मिक कृति, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके सरल हिन्दी अनुवादादि-सहित तथा मुख्तार पंडित जुगलकिशोरजी-द्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य १॥)

६ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—

मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी-द्वारा लिखित ग्रन्थ-परीक्षाओंका इतिहास-सहित प्रथम अंश। मूल्य ।)

७ विवाह-समुद्देश्य—

पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार-रचित विवाह के रहस्यको बतलाने वाली और विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य सुन्दर कृति। ॥)

वीरसेवामन्दिरमें जो साहित्य तैयार किया जाता है वह प्रचारकी दृष्टिसे तैयार होता है व्यवसायके लिये नहीं और इसीलिये

कागज, छपाई आदिके दाम बढ़ जानेपर भी पुस्तकोंका मूल्य वही पुराना (सन् १९४३का) रखा है। इतनेपर भी १०) से ज्यादाकी पुस्तकोंपर उचित कमीशन दिया जाता है।

प्रकाशन विभाग—वीरसेवामन्दिर, सरसावा ज़िला सहारनपुर

काशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org